जितेन्द्रकुमार सिंह 'सञ्जय'

प्रकृति की नैसर्गिक छटाभिमण्डित विन्ध्य की उपत्यका में अवस्थित महानद शोण तटवर्तस्थ बीछी (सीधी) नामक ग्राम में वसन्त पञ्चमी, विक्रमाब्द २०३६ (१ फरवरी, १९७८ ई०) को प्रख्यात् अगोरी-बड़हर-चन्देल राजवंश में कविवर सञ्जय का जन्म ब्राह्मवेला में हुआ। माता महीयसी प्रभावती सिंह तथा पिता बाबू महेन्द्रबहादुर सिंह। पितृसौख्याप्लावित कवि का पालन-पोषण अन्य दो सहोदरों एवम् सहोदरा के साथ मनस्विनी माता ने किया और शैशव ननिहाल में मातामह बाबू मृत्युञ्जयप्रताप सिंह एवम् मातुल वैद्यनाथ सिंह के संरक्षण तथा मतामही सुखमावती देवी के वात्सल्याञ्चल में व्यतीत हुआ। ग्रामीण परिवेश में इण्टर तक की शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर कवि ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी०ए०, डॉ० राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैज़ाबाद से एम.ए. (हिन्दी) तथा महाराष्ट्रसरकार द्वारा सञ्चालित 'बाम्बे आर्ट' की परीक्षा उत्तीर्ण की।

कवित्व के संस्कार कोमल शैशव में ही उद्बुद्ध हो उठे तथा समय की गति के साथ परिष्कारोन्मुख होते रहे। इसी बीच बर्दी नरेश राजा त्र्यम्बकेशप्रतापबहादुर सिंह जू देव का साहचर्य इतिहास के नवीन धरातल की ओर प्रेरित किया, जिससे कवि की अभिरुचि ऐतिह्यकृतियों के प्रणयन में उत्तरोत्तर बढ़ती रही। काव्य-रचना की शिक्षा कवि को जहाँ अपने काव्य-गुरु परिव्राजकाचार्य पण्डित श्री रमाशङ्कर पाण्डेय

शिवद्वार

शिवद्वार का धार्मिक, सांस्कृतिक एवम् ऐतिहासिक परिचय)

SHIVDWAR

ligious, Cultural and Historical Introduction of Shivdwar)

जितेन्द्रकुमार सिंह 'सञ्जय'

JITENDRAKUMAR SINGH 'SANJAY'

सोनभद्र, (उ०प्र०), भारत

SONANCHAL SAHITYAKAR SANSTHAN

SONEBHADRA, (U.P.), INDIA

सोनाञ्चल पुस्तक माला - १०

शिवद्वार

जितेन्द्रकुमार सिंह 'सञ्जय'

प्रकाशक
सोनाञ्चल साहित्यकार संस्थान
सोनभद्र (उ०प्र०), भारत

आवरण – उमामहेश्वर प्रतिमा : शिवद्वार

रेखाङ्कन – प्रेमकुमार

चित्र – आशीषकुमार अग्रवाल

सम्पर्क–सूत्र
(१) 'चन्द्रकुटी' देवगढ़, शिवद्वार, सोनभद्र- १० (उ०प्र०)
(२) ठाकुर श्री शिवपाल सिंह 'शिव'
'कमला-कुञ्ज' ५१४/२००
डॉ० प्रभातशास्त्री मार्ग (कच्ची सड़क)
दारागञ्ज, इलाहाबाद -६ (उ०प्र०)

संस्करण - २००२

मूल्य – पच्चीस रुपये मात्र

मुद्रक :
सुकान्तमणि त्रिपाठी
एकेडमी प्रेस
दारागञ्ज इलाहाबाद दूरभाष (०५३२) ५००६७८

अनुक्रम

उमामहेश्वर प्रतिमा : शिवद्वार
(चित्रकार—प्रेमकुमार)

गिरिजामुखी

शिव सम्पृक्त बरैला मद्रसे

समर्पित
है

ीयुत् ठाकुर शिवपाल सिंह 'शिव'
को

मङ्गल छन्द-प्रसून के साथ

नेह मध्य गिरिजा प्रकाश पुञ्ज,
    बाँट रहा ज्ञान राशि योग के सुताल को।
ते-श्वास दीन दुखियों का दुख हर,
    आस-भाव-केतु फहराता शब्द-जाल को।
कर रहा रीति प्रीति की प्रतीति,
    ध्यान धारणा समाधि शारदीय चाल को।
अन्यतम अङ्क दृष्टि दिष्ट कहो,
    शिव को सराहूँ कि सराहूँ शिवपाल को।।
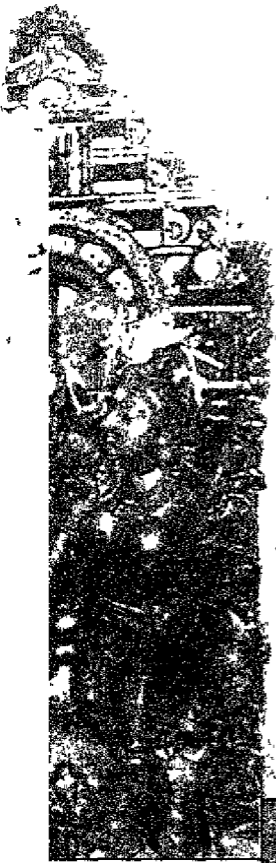
उमामहेश्वर प्रतिमा शि

ष्णु–विग्रह :

कंकालवेषा महिषासुरमर्दिनी

वर–क

। कुण्डवासिनी

शैलाश्रित गुहाचित्र : मुक्खादरी

द्वैतभावास्पदं संसृतिघ्नं स्मृतं शामदं कामदम्।
प्राचीनताद्योतिका मूर्तिरेकास्थिता भव्य भावाप्लुता।।

र प्रतिमा शिवद्वार (रेखांकन प्रेमकुमार)

अच्छिन्नमेखलमलब्धदृढोपगूढ-
मप्राप्तचुम्बनमवीक्षितवक्त्रकान्ति।
कान्ताविमिश्रवपुषः कृतविप्रलम्भ-
सम्भोगसख्यमिवपातु वपुः स्मरारेः॥

अर्धनारीश्वर

(रेखांकन दिवंगत डॉ० जगदीश गुप्त)

.। श्री गुरवे नमः ।.

वामी १००८ हरिचैतन्य ब्रह्मचारी जी महाराज

रमहंस आश्रम, टीकरमाफी, अमेठी, सुल्तानपुर (उ०प्र०)

दूरभाष : ०५३६८-२२३६६

ऋषिवाक्

ात्म एवं भारतीय संस्कृति की परम्परा के अन्तर्गत लेखक
हेतु, जो परमोच्चशिखर आत्मतत्त्व का मार्ग प्रशस्त किया
याबोध को नष्ट कर हमें शास्त्रों के सूत्रों से मिश्रित सच्चे
ारायेगा। हमारे शास्त्र व पुराण इस बात के साक्षी हैं कि
र का अवतार हो या भगवान् कृष्ण का, मनु-सतरूपा की
रीचि व हरिश्चन्द्र जैसा दानी, थे सब राजन्यवंशावतंस।
मारे तपःपूत क्षत्रिय इस धर्म-धुरी भारत भूमि में जन्म
ट श्रद्धा से वेद, शास्त्र, सन्त-महात्मा, अबला व दीन-
का संकल्प लेकर सेवारत रहे हैं। उसी कड़ी में विद्वान्
परिवार के सपूत श्री जितेन्द्रकुमार सिंह 'सञ्जय' ने
धरोहर को उजागिर किया है।

मे भूतभावन भगवान् आशुतोष व महामाया शक्ति का
नहीं है। भावनात्मक दृष्टि से वहाँ का इतिहास पुराणो
ी अध्यात्म का साक्षी भी है। इन्द्र के अभिशाप की
जैसे अघी का उद्धार और बैजू जैसे दृढ़ संकल्प भक्त की

कथाएं जहां अनुस्यूत है वह स्थल अलौकिक व ऐतिहासिक है, लेखक ने अपनी निष्ठा, तन्मयता व विद्वत्ता का परिपक्व परिचय दिया है। मुझे आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि पाठकगण इस पुस्तक का अवलोकन कर सारगर्भित शब्दों में लिखित प्रस्तुत पुस्तक के पुराणेतिहास से मन्त्रमुग्ध होंगे। अन्त में लेखक के श्रीवर्चस्व व मंगलमय भविष्य की कामना करते हुए आशीर्वाद सहित -

दिनांक १८-७-२००२ ई० *हरिचैतन्य ब्रह्मचारी*

शाखा — स्वामी ब्रह्मानन्द परमार्थ आश्रम,
प्रतिष्ठानपुर, झूंसी, प्रयाग (उ०प्र०)
दूरभाष : ०५३२-६६७२७८

लेखकवाक्

'श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती।।'[1]

प्राचीन वृत्तान्तों के निरूपण-सन्दर्भ में वस्तुतः वही (इतिहासकार) श्लाघ्य एवं निष्पक्ष माना जाता है, जिसकी दृष्टि न्यायाधीश की भाँति रागद्वेष से विवर्जित है।

ऐतिहासिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर अगोरी-बड़हर-राज्य का समस्त परिक्षेत्र अखण्ड भारतवर्ष के अभिन्न अङ्ग के रूप में भारतीय मनीषा द्वारा अद्यावधि वरेण्य एवम् समादृत होता रहा है। वैदिककाल में जहाँ यह सम्पूर्ण आटविक क्षेत्र मगध, प्रतिष्ठानपुर, वत्सदेश तथा काशी के अन्तर्गत विभिन्न शक्तियों के उत्थान-पतन के साथ शासित होता रहा, वहीं इसकी अपनी स्वतः की पहचान भिन्न-भिन्न सोपानों में गुजरती रही। कभी विजयगिरि, अघुरी तथा पुराअघोरक्षेत्र की संज्ञा से अभिहित परवर्ती चन्देलकालीन अगोरी-बड़हर-राज्य बालन्दी प्रभाव से विमुक्त होने के पश्चात् अपनी एक स्वतन्त्र अस्मिता को जीवन्त करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन अगोरी-बड़हर-राज्य के भव्य भाल पर समन्तकमणि की भाँति, जिस नगर की गौरवान्वित आभा देदीप्यमान रहा करती थी, उसे ही सम्प्रति शिवद्वार अभिधान से जाना जाता है। इस नगरी की गाथा अत्यन्त लोमहर्षक है। समय की धुँधली परतों को परत-दर-परत साफ करने पर इसकी प्रशासनिक महत्ता का परिज्ञान होता है। दसवीं शताब्दी के पूर्व यह एक सुन्दर और सुदृढ नगर के रूप में विद्यमान था, जिसे सुन्दरीगढ़ अथवा शोढ़रीगढ़ संज्ञा से अभिहित किया जाता था। उसी समय इसकी स्वतन्त्र अस्मिता पथक (तहसील) के रूप में थी। सप्तद्वार पथक चन्देल राज्य कालिञ्जर के अन्तर्गत आता था। स्थानीय सत्ता बालन्द वंश के हाथ में थी। उसी समय यहाँ पर अगोरी के अन्तिम शासक (बालन्द वंशीय) मदनशाह की विधवा भ्रातृभार्या अपनी युगल सुकोमलाङ्गी किशोरी कन्याओं के साथ रहा करती थीं, जो परवर्तीकाल में चन्देल साम्राज्य स्थापित होने पर अगोरी-बड़हर-राज्य और बर्दी-शाहपुर-

---

१ राजतरङ्गिणी ।।१/७।।

राज्य के अधिष्ठापक भारमलदेव और की गान्धर्व परिणा
भार्या के रूप में उक्त युगल राज्यों की राजमाता के महत्त्वपूर्ण पद व
समलङ्कृत कर सकीं।

शिवद्वार में अवस्थित उमामहेश्वर की प्राचीन मनोहारिणी मूर्ति पु
जाग्रत हो उठी। हमें तो लगता है कि कुछ अदृश्य शक्तियाँ होती हैं, उ
समय-समय पर किसी भी स्थान में निवास करके उसे दीप्त कर देती है
आज़ादी के पूर्व, जिस शिवद्वार की आभा परित्यक्त विधवा की तरह मली
रहा करती थी आज वह पुनः तुलसी-सी सद्यः परिणीता के समान सज क
अपने अतीत के दर्पण में अपनी प्राक्सुषमा और साम्प्रतिक गरिमा क
मूल्याङ्कन तुलनात्मक दृष्टि से करता प्रतीत होता है। यह उसी अदृश्य सत्ता क
समुत्कर्ष नहीं तो और क्या है? विज्ञान की भाषा में विशिष्ट गुरुत्वाकर्षण क
सम्वर्द्धन कहा जा सकता है।

यह इस पिछड़े अञ्चल का सौभाग्य ही था कि भगवान् उमामहेश्वर ने
यहाँ अपनी दिव्य नगरी अधिष्ठित की। उन्हीं की प्रेरणा से ही पूतात्मा बहुरिय
अविनाशकुँवरि ने गमनागमन की सुविधा से वञ्चित होने के पश्चात् भी
चरणाद्रिगढ़ से समुचित पाषाणखण्डों का आयात करके कुशल राजगीरो
द्वारा तीन वर्ष की नैरन्तर्य कार्य-पटुता का उपयोग करते हुए सन् १६४२ ई०
में इस मन्दिर का निर्माण अपने दिवंगत पति बाबू जगतबहादुर सिंह की
पुण्य-स्मृति में करवाया। तब से निरन्तर यह क्षेत्र प्रगतिपथ पर अग्रसर है।
जहाँ पहले कभी-कभार दर्शनार्थी आया करते थे वहीं आज लाखों की
संख्या में भक्तगण काँवर लेकर प्रतिवर्ष श्रावण मास में आते हैं और
श्रद्धाभक्ति पूर्वक अपने प्रभु उमामहेश्वर का जलाभिषेक करते हैं। यह सब
उसी परमपिता परमेश्वर की माया का प्रसार है। कभी बैजू के नियम पर
प्रसन्न होकर बैजनाथ बनते हैं तो कभी भस्मासुर को वरदान देकर अवढरदानी।
भगवान ने बैजू की सेवा स्वीकार की और स्वयं बैजनाथ हुये। आज भी उस
बैजू का गाँव 'बैजनथवाँ' शिवद्वार से २ कि०मी० पश्चिम में अवस्थित है
और इस कल्प-कथा की स्मृति को जीवन्त करता है। भस्मासुर को शिव ने
जिस स्थान पर वर दिया था वह स्थान भी शिवद्वार से २ कि०मी० दक्षिण मे
विद्यमान है और 'वरदिया' संज्ञा से वहुश्रुत है

गौतम ऋषि के शाप से इन्द्र जहाँ पर विमुक्त हुये वह स्थान भी शिवद्वार से २ कि०मी० पूर्व में विद्यमान है, जिसे 'भगाही' कहते हैं। यह 'भगवाही' अर्थात्, भग का वहन करने वाला का अपभ्रंश रूप है। श्याम बदना गौरी जिस कुण्ड में स्नान किया करती थीं वह 'गौरी-कुण्ड' आज विकृत होकर 'गाउँकुण्डा' में परिणत हो गया है और जिस 'धवल-कुण्ड' मे स्नान करके गौरी गोरी हुई वह आज 'धौराकुण्ड' नाम से ख्यात् और शिवद्वार के पूर्व में स्थित है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्वकाल में यह समस्त अञ्चल शिवमय था, यदि इसे शिवाञ्चल की संज्ञा दी जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। श्रेष्ठ कर्तृत्व सर्वथा गुणोपेत होते हुये भी विषय-ज्ञान की अन्तिम परिधि का निर्माण करने में समर्थ नहीं होता है। नवीन-संरचना के निमित्त अवकाश, जिज्ञासु के लिए कभी भी अलभ्य नहीं होता। वस्तुत· ज्ञान निस्सीम है। किसी भी विषय की कोई अन्तिम संहिता तैयार नहीं की जा सकती। महाकवि कालिदास ने लिखा है –

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तःपरीक्षान्यतरद्भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।[1]

'शिवद्वार' मूलतः मेरी ऐतिहासिक कृति 'देवगढ़ का सांस्कृतिक इतिहास' का अंश मात्र है। नवीन लेखों में 'शिवद्वार का धार्मिक माहात्म्य एवम् सोनभद्र की शैव-साधना', 'शिवद्वार मन्दिर निर्मात्री बहुरिया अविनाशकुँवरि' तथा 'शिवद्वार काँवर-यात्रा : परम्परा और माहात्म्य' बस हैं। अन्तिम मे सगृहीत 'शिवद्वार-काव्य-कुसुमाञ्जलि' सन् १९९७ ई० की रचना है। शेष ११ लेख समय-समय पर १९९६ ई० से २००० ई० के मध्य में लिखे गये हैं। आज सभी को एक सूत्र में अनुस्युत करके पुस्तकाकार रूप में शिवभक्तो के कर-कमलों में सौंपने की कामना मात्र से स्वयं पुण्यानुभूति कर रहा हूँ। मै यह नहीं कह सकता कि इस प्रयत्न में मैं पूर्णतया सफल हूँ तथा यह कृति सर्वथा दोषमुक्त है। कविकुलकल्पतरु कालिदास ने लिखा है कि विधि अथवा विधाता की प्रवृत्ति ही ऐसी है कि वह समस्त गुणों को एक ही स्थान पर एकत्रित नहीं करना चाहता है, अर्थात् किसी भी वस्तु को सर्वगुण सम्पन्न नही होने देता है –

---

[1] मालविकाग्निमित्रम् ।।१/२।।

'प्रायेण सामग्रयविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः।'

इसी के साथ सुधी-सहृदय विद्वत्-समाज से अवधी-काव्य कोकिल विश्वकवि गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में मेरा किञ्चित अनुरोध है –

जे पर भनिति सुनत हरषाहीं । ते वर पुरुष बहुत जग नाहीं।।
सज्जन सुकृति सिन्धु सम कोई । देखि पूर विधु बाढ़इ जोई।।

इस अवसर पर माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः की साक्षात् अनुकृति, करुणावात्सल्यविग्रह दयामूर्ति, निजजननी महीयसी प्रभावती सिंह तथा पालक पोषक दिग्बोधक पूज्यपितृचरण बाबू महेन्द्रबहादुर सिंह की लक्षाधिक समर्चा करते हुए अनुज धर्मेन्द्रकुमार सिंह, ज्ञानेन्द्रकुमार सिंह, शिवेन्द्रकुमार सिंह तथा परमप्रिय भगिनी आयुष्मती दीपमाला, कुमुद, आरती, श्रद्धा (कञ्चन) प्रियङ्का एवं शैलजा के उत्तरोत्तरोत्तम भविष्य की सत्कामना के साथ इन सभी को अपने अन्तरीण आशीर्जल से शुभाषिक्त करता हूँ साथ ही भावना का उच्छल वेग निज वृहत्तर कुटुम्ब के प्रज्ञावान् विचक्षण मनीषियों का स्मरण करने को बार-बार अभिप्रेत कर रहा है। अस्तु अगोरी-बड़हर-राज्य के वर्तमान उत्तराधिकारी भ्रातृवर्य श्रीमन्महाराजकुमार राजा आभूषणब्रह्मशाह जू देव, कुँवर कान्तिब्रह्म, कुँवर हर्षरमणब्रह्म (बिसहार), श्रद्धेय पितामह बाबू गौरीशङ्कर सिंह जी (जमगाँव), पितृव्य बाबू हिमांशुकुमार सिंह (केवटा), ज्येष्ठपितृकल्प श्रीयुत् डॉ० अनुजप्रताप सिंह, डी०लिट्०, उपाचार्य – हिन्दी-विभाग, पी०जी० कॉलेज अमेठी (लिलवाही) तथा अग्रज बाबू अमरबहादुरसिंह (बकौली) का हृदय से आभारी हूँ। इन सत्तमूर्तियों का आशीष सदैव मुझे प्रोत्साहित करता रहा है।

पग-पग पर मार्गदर्शन करने वाले काव्यगुरु अभिनव बाणभट्ट काव्याचार्य पण्डित रमाशङ्कर पाण्डेय 'विकल' की सादर अभिवन्दना करने के साथ-ही-साथ पुस्तकीय कलेवर को सम्वर्द्धित करने में जिन विद्वान् मनीषियों की रचनाओं का अवलम्बन लिया गया है उनके प्रति आभार व्यक्त करना हमारा नैतिक कर्तव्य है। सन् १८८४-८५ ई० में प्रकाशित 'आर्क्योलोजिकल सर्वे रिपोर्ट' (भाग-२२) जैसी सुप्रसिद्ध और अनुपलब्ध पुस्तक को उपलब्ध कराने हेतु मैं श्रद्धेय डॉ० अयोध्याप्रसाद पाण्डेय (एम०ए० पी एच०डी० पी०सी०एस० का चिर ऋणी हूँ तथा

जैसी प्राचीन पुस्तकों और कतिपय ऐतिह्यग्रन्थों को सप्रेम भेंट करके परम श्रद्धेय विन्ध्य-रत्न पण्डित श्रीरामसागर शास्त्री जी ने मेरी शोध-यात्रा को उत्स तक पहुँचाया है। तत्रभवान् की पुनर्पुनर्चरणवन्दना करना मेरी अप्रतिम श्रद्धा का चिर कर्तव्य है। इसी के साथ संस्कृत-जगत् में अभिनव कालिदास की गौरवान्वित संज्ञा से अभिमण्डित गुरुवर्य अभिराज डॉ० राजेन्द्र मिश्र (कुलपति-सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी), डॉ० उमेशचन्द्र चट्टोपाध्याय (प्राध्यापक – प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद), रीतिकालीन साहित्य के एक मात्र पण्डित डॉ० किशोरीलाल (निवर्तमान वरिष्ठ प्राध्यापक – हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद), कविर्मनीषी डॉ० प्रकाश द्विवेदी (अम्बेदकरनगर) श्रीयुत् महेशचन्द्र द्विवेदी, आई०पी०एस० (पूर्व पुलिस महानिदेशक उ०प्र०) डॉ० सुरेशचन्द्र शुक्ल (अध्यक्ष हिन्दी लेखन मञ्च, नार्वे), श्री सतीशचन्द्र शुक्ल 'भावुक' तथा डॉ० लालजी सिंह बिसेन का हृदय से आभारी हूँ। इन अष्टमङ्गल विभूतियों ने समय-समय पर मेरा मनोन्नयन किया है। साथ-ही-साथ वह कृति जिस महामेधिर व्यक्तित्व के कोमल कमल कर-पल्लव में समर्पित होकर सनाथ हुई है उस महामनीषी को पुनः स्मरण करते हुए गिनीज वर्ल्ड ऑफ रिकार्ड से सम्मानित श्मश्रु नृत्य सम्राट् श्रीयुत् राजेन्द्रकुमार तिवारी 'दुकान जी', पं० रामचन्द्र मिश्र (अपर मुख्य अधिकारी, जिला पञ्चायत इलाहाबाद), पं० रामभवन द्विवेदी (प्रबन्धक – इलाहाबाद बैंक, कटरा इलाहाबाद), श्रीरणजीत सिंह (सम्पादक – अब तक . कॉम), परम श्रद्धेया बुआजी श्रीमती सुषमा सिंह, डॉ० रामचरित्र सिंह (प्राचार्य - बेनीमाधव महाविद्यालय, इलाहाबाद) महाकवि पं० राजाराम शुक्ल, महाकवि डॉ० महेशप्रतापनारायण अवस्थी, डॉ० प्रभाकर द्विवेदी 'प्रभामाल', डॉ० रामकिशोर शर्मा (प्राध्यापक- हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद) डॉ० राजेन्द्र त्रिपाठी 'रसराज' (प्राध्यापक- संस्कृत विभाग, इलाहाबाद डिग्री कॉलेज), डॉ० इन्दुप्रकाश मिश्र 'इन्दु जौनपुरी' (प्राध्यापक- संस्कृत विभाग बेनीमाधव महाविद्यालय, इलाहाबाद), महाकवि पं० दूधनाथ शर्मा 'श्रीश' (जौनपुर), रामचन्द्र शुक्ल, बन्धु परमेश्वरदयाल श्रीवास्तव 'पुष्कर', डॉ० सुग्रीव पाण्डेय 'बच्चा', गणेशदेव पाण्डेय 'ग्रामीण', करुणाकर पाठक 'करुण', प्रमोद कुमार शर्मा 'अनुज' बन्धु राजकुमार सिंह, अद्युम्नी

अनामिका सिंह (नीतू) तथा आयुष्मती भारती सेंगर 'वाणी' (मैनपुरी) का हृदय से आभारी हूँ।

संस्कृत के कतिपय श्लोकों की हिन्दी व्याख्या करवाने के निमित्त गुरुवर्य डॉ० हीरालाल पाण्डेय आचार्य तथा गुरुवर्य पण्डित शम्भुनाथ त्रिपाठी 'अंशुल' आचार्य की साभार समर्चा करते हुए सुरुचि-सुष्ठुता-पूर्वक मुद्रण हेतु एकेडमी प्रेस के स्वत्वाधिकारी पण्डित श्री सुरेन्द्रमणि त्रिपाठी तथा परम आत्मीय अग्रजबन्धु श्री सुकान्तमणि त्रिपाठी के प्रति आन्तरिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। इसी क्रम में उदारतापूर्वक रङ्गीन चित्र प्रदान करने हेतु फिल्म स्टूडियो के उत्तराधिकारी भाई आशीषकुमार अग्रवाल तथा रेखाचित्र हेतु अनन्यबन्धु चित्रकार प्रेमकुमार धन्यवाद के पात्र हैं। अन्त में महाकवि क्षेमेश्वर के माध्यम से पुनः गुणग्राहियों के प्रति भावाञ्जलि अर्पित कर आश्वस्ति की अनुभूति करता हूँ। यथा –

'दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम्।
आवृणुध्वमतोदोषान् विवृणुध्वं गुणान् बुधाः।।'

२८ ।। ०६ ।। ०२ — **विदुषां वंशवदः**

जितेन्द्रकुमारसिंह 'सञ्जय'

चन्द्रकुटी
देवगढ़, शिवद्वार
सोनभद्र, २३१२१०
(उ०प्र०)

❖❖

शिवद्वार का धार्मिक माहात्म्य एवम् सोनभद्र की शैव-साधना

उत्तर प्रदेश के मानचित्र में शिवद्वार की संस्थिति स्वयमेव एक गौरव का विषय है। सोनभद्र जनपद में लुम्बुनी-दुद्धी राजमार्ग से ३६ कि०मी० दूर पश्चिम-दक्षिण दिशा में अवस्थित शिवद्वार भगवान शिव की आदि नगरी है। लता-गुल्मों पादप-प्रसूनों से आच्छादित इस नगरी की ध्रुवीय स्थिति ३२.५२ और २५.३२ उत्तरी अक्षांश तथा ८२.७२ एवं ८३.३३ पूर्वी देशान्तर के मध्य है। इसकी सोनभद्र के इतिहास में अहम भूमिका रही है। इसका धार्मिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक महत्त्व अक्षुण्ण है। यहाँ पर बौद्धकालीन अवशेष तथा खण्डहर भी विद्यमान हैं। सन् १९६६-६७ ई० में यहाँ पर एक विशाल ताम्रपत्र मिला था, जिसकी लिपि पढ़ी नहीं जा सकी थी। सम्प्रति वह ताम्रपत्र तत्कालीन एस.डी.एम. राबर्ट्सगञ्ज को स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी पं० गोपालनाथ त्रिपाठी ने उपलब्ध करा दिया था। आजकल वह दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में विद्यमान है।

शिवद्वार में अवस्थित शिव-शिवा की सम्पृक्त प्रतिमा प्राचीनकाल से ही जीवन्त तथा जज्वल्यमान नक्षत्र की भाँति देव, दनुज, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर तथा नर सभी के द्वारा सम्पूज्य रही है। इसकी धार्मिक प्रतिष्ठा इसे द्वितीय काशी की गरिमा प्रदान करती है। इसे ही मिर्जापुर गज़ेटियर में गुप्त काशी की सज्ञा से अभिकल्पित किया गया है।

शिवद्वार में अपनी साधना को चरमावस्था पर पहुँचाने वाले सन्त शिरोमणि स्वामी शिवानन्द जी महाराज के अनुसार शिवद्वार का पूर्वकालीन नाम अयोध्यापति सम्राट् शिवि की सम्प्रभुता का प्रतीक होने के कारण शिविगढ़ था और सम्प्रति शोढ़रीगढ़ के रूप में विद्यमान खण्डहरावशेष उनकी कचहरी के ही हैं। हिन्दू जनता धर्म के सन्दर्भ में तर्क को महत्व नहीं देती है। इस दृष्टि से स्वामी जी के उक्त कथन को मान लेने में कोई अवरोध नहीं होता है। वैसे भी अयोध्या के सूर्यवंशी शासक चक्रवर्ती सम्राट् होते आये हैं। यदि उनके न्यायालय की एक खण्डपीठ इस दक्षिणाञ्चल में भी रही हो तो

कोई अत्युक्ति नहीं। शिवद्वार से दानवीर सम्राट् शिवि का सम्बन्ध स्वतः ही एक भागवतीय माहात्म्य है।

भगवान् शिव की अवढरदानी वाली प्रवृत्ति भी इस अञ्चल को सनाथ करती है। कैमूर की उपत्यका में तपश्चर्यालीन भस्मासुर की भक्ति पर प्रसन्न होकर विरुपाक्ष उमामहेश्वर ने उसे जिस स्थान पर वर प्रदान किया वह स्थान आज भी इस अञ्चल में विद्यमान है और 'वरदिया' नाम से अस्तित्व में है। भस्मासुर के भय से तीनों लोकों का भ्रमण करने के पश्चात् शिव जिस स्थान पर छिपे उसे वर-कन्हरा कहा जाता है। कन्हरा 'कन्दरा' का अपभ्रंश रूप है। वर-कन्दरा की अन्विति वर देने के अनन्तर त्राणार्थ प्रयोग की गई कन्दरा से है। इसी कन्दरा से भगवान् विष्णु ने मोहिनी रूप धारण कर भस्मासुर को ऐसा नर्तित किया कि वह स्वयं भस्म हो गया। आज भी कन्हरा में विष्णु का नयनाभिराम विग्रह दशावतार सहित विद्यमान है।

गौतम भार्या अहिल्या के साथ छल करने के कारण इन्द्र गौतम ऋषि के कोपभाजन हुये। परिणामतः उनके शरीर में सहस्रभग हो गये। शाप से मुक्ति हेतु देवेन्द्र शचीश ने इसी शिवद्वार में भगवान् शिव की आराधना की। भगवान् शिव की कृपा से इन्द्र का शरीर पुनः पूर्ववत सुन्दर हो गया। उनके शरीर के समस्त भग प्रच्छन्न होकर भूमि में विलीन हो गये। जिस स्थान ने इन्द्र के भगों का वहन किया वह 'भगवाही' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे कालान्तर में भगाही कहा जाने लगा।

भगवान् शिव के भक्तों का चरित्र भी अद्वितीय और दुर्लभ रहा है, जिसकी समता नहीं की जा सकती। प्रभु का एक ऐसा ही भक्त था बैजू अहीर। बैजू नित्यप्रति स्नान करके शिव प्रतिमा पर दण्ड प्रहार किया करता था। एक दिन स्नान करने के अनन्तर वह भोजनासन पर बैठ गया, तभी उसे ध्यान आया कि आज मैंने तो भगवान् पर दण्ड प्रहार किया ही नहीं। भोजन बिना स्पर्श किये ही लगुड लेकर वह दौड़ा-दौड़ा आया और जैसे ही शिव प्रतिमा पर दण्ड प्रहार किया— शिव प्रकट हो गये। उस भक्त बैजू का जीवन सनाथ हो गया। भगवान् शिव ने कहा – 'वरं ब्रुहि'! बैजू ने वर माँगा 'आगे बैजू पाछे नाथ।' भगवान् ने 'एवमस्तु' कहा और बैजनाथ नाम को स्वीकार कर लिया आज भी उस भक्त प्रवर का गाँव शिवद्वार से २ कि०मी

पश्चिम 'बैजनथवाँ' नाम से श्रुत-विश्रुत है।

भगवान् की महिमा अगम्य है। उनके माहात्म्य का परावार उल्लङ्घन की सीमा से परे है। अस्तु। जहाँ तक सोनभद्र में शैव-साधना का प्रश्न है वह अपने समय में चरमावस्था को प्राप्त हुई और सोनभद्र शैवमत का गढ़ बन गया। शोण संस्कृति की पौराणिक पृष्ठभूमि वैदिककालीन सभ्यता की पराकाष्ठा परक ऐतिहासिकता से सम्बद्ध है। अमरकण्टक से पाटलिपुत्र तक की महानद शोण की अजस्र यात्रा एक सशक्त व जीवन्त सांस्कृतिक जन-जीवन की अभिव्यक्ति है। महिषासुरमर्दिनी माँ दुर्गा की असुरों की संहार परक प्रस्तुति से परित्राण प्राप्त करने का गौरव प्राप्त करने वाले आदिम गिरिगुह्यवनवासियों की एक लम्बी जनसंख्या का बिखराव महानद शोण के तटवर्ती प्रदेशों में रहा है। सोनभद्र की धरती मूलतः आध्यात्मिकता से जुड़ी रही है और इस आध्यात्मिक धरती ने अनेक ऋषियों, महर्षियों, परिव्राजकों, साधुओं, संन्यासियों व सिद्ध सम्प्रदायों को आकृष्ट किया। सन्त परम्पराओं का एक महत्वपूर्ण परिव्रजन इस अञ्चल में हुआ, जिसमें शैव व शाक्त प्रमुख थे। शैव सम्प्रदाय से जुड़े अघोर तन्त्र ने इसे बहुत सराहा और इसे अपनी कर्मभूमि बना लिया। शाक्तों में माँ दुर्गा के उपासकों ने इसे तान्त्रिक सिद्धियों का गढ़ माना। गिरि कन्दराओं और ओबराओं में तन्त्र साधना जगी, वहीं शोण के तटीय स्थलों पर सिद्धियाँ व श्मशान पूजन व भैरव की अनेक अर्चनाएँ की गईं। यही नहीं प्रेत सिद्धियों से लेकर श्मशान भैरवी की कृपा प्राप्त करने के लिए साधकों का जमघट लगा रहता था। भगवान् का पाशुपत रूप जो नेपाल में सम्पूजित रहा वह इस अञ्चल में गोपूजन के रूप में प्रचलित रहा। शोण के तट पर शव छेदन-क्रिया की भी प्रशिक्षा आयुर्वेद के जिज्ञासुओं को दी जाती थी। शवों को शोण के जल में सुलाकर पत्थरों का ओट देकर यह क्रिया की जाती थी। धाराओं के प्रवाह से माँस कट-कट कर गिरता जाता था, जिसे मछलियाँ वगैरह खा लेती थी अस्थियों का ढाँचा व नसें आदि शेष रह जाती थीं, जिससे अध्ययन परक कार्य चलता था।

उत्तरी भारत से आने वाले सिद्ध सम्प्रदायों में कनफटे व लोरिकी पहनने वाले सिद्ध सन्तों का विशेष महत्व था, जिसमें इस अञ्चल में पाशुपत तन्त्र के महान् साधक लोरिक का नाम विशेषतः उल्लेख्य है, जिसने अपनी तान्त्रिक

सिद्धियों से अनेक कौशल उदाहरण के रूप में छोड़ दिया है। इस प्रसङ्ग में यह भी उल्लेख्य है कि योगिराज भर्तृहरि भी इस अञ्चल में आये थे, लेकिन लोरिक की अलौकिक तन्त्र सिद्धियों के आगे उनकी एक न चली और वे गङ्गापार चुनार तक ही प्रभावित कर सके, जहाँ उनकी समाधि अद्यतन विद्यमान है।

पूर्ण शोणप्रान्त माँ दुर्गा की आध्यात्मिक भक्ति से लिप्त रहा, परन्तु व्यवहारिक रूप से इस भू-भाग में अवस्थित कोई भी छोटी या बड़ी जनवस्ती ऐसी नहीं मिलती जहाँ शिव के मन्दिर न हों, यह भी एक विलक्षण संस्थिति है। इस प्रसङ्ग में यह विशेष उल्लेखनीय है कि शैव तन्त्र से प्रभावित अघोर तन्त्र शव-साधना में सिद्धहस्त था और शव में इकार की प्राण-प्रतिष्ठा कर जीवन्त रूप शिव को दे देना इनकी अलौकिक साधना का चरमोत्कर्ष है। अघोर पन्थी नाम के पश्चात् 'राम' शब्द का प्रयोग करते थे। इस अञ्चल में सवर्ण वर्ग में प्रायः ब्राह्मणवर्ग 'राम' शब्द का प्रयोग करता है।

आदिवासियों में शिव का पूजन नहीं होता। वे दुर्गा की उपासना करते हैं और उनकी मान्यताएँ कुछ अलग हैं। जिह्वा छेदन आदि क्रियाएँ आज भी की जाती हैं। बलि में बकरों भेड़ों का वध एवम् कर्णकर्तन प्रचलित है। प्रारम्भिक काल में महिष बलि की प्रथा थी।

शैव और शाक्त का समन्वित रूप सोनभद्र में अनादिकाल से ही पनपा, फला और उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। अघोर साधना इसका जीवन्त उदाहरण है। आज भी अगोरी दुर्ग, जिसकी स्थापना मठ के रूप में ४६७ विक्रमी सम्वत् में अघोरभद्र अघोरी ने की थी, अघोर पन्थ की जीवन्तता का प्रतीक है। अगोरी, गोठानी, पञ्चमुखी, गौरीशङ्कर, कण्डाकोट प्रभृति के देवल शिव और शक्ति के समन्वित स्वरूप को विकसित करते हैं। जहाँ सम्पूर्ण सोनभद्र शैव-साधना के लिए विशेष रूप से उपयुक्त था वहीं शिवद्वार त्रिकोणीय तान्त्रिक-साधना के लिए जगद्विख्यात् था। शिव का शिवा के साथ रमण करना ही सृजन का प्रतीक है। अस्तु सृजन की इस भूमि में साधना का उत्कर्ष तो होगा ही। भैरव शिव के प्रमुख गण हैं। महाँव की भैरव मूर्ति (जो सन् १९९० ई० में मूर्ति चोरों के हाथ लग गई और इम [illegible] की भैरव-साधना क' ाक ज्ञावन्त [illegible] विलुप्त हो गया इस दृष्टि से विशेष महत्व रखती थी।

वन-पर्वत कन्दराओं, उपत्यकाओं में फलीभूत शैव साधना को ऊर्जा शिवद्वार से ही मिलती रही। यहाँ पर शाक्त सम्प्रदाय का भी पोषण होता रहा है। शिव-शिवा का सम्पृक्त स्वरूप दोनों के लिए आकर्षण का प्रतीक था। इस दृष्टि से यदि सोनभद्र में पनपी, बढ़ी और उत्कर्ष को प्राप्त हुई शैव-साधना की धार्मिक और तान्त्रिक राजधानी शिवद्वार को माना जाय तो कोई अनौचित्य नहीं होगा।

श्रीशिवद्वारमद्वैतभावास्पदम्

अविभक्त जनपद मीरजापुर के मध्य की पर्वतीय श्रृङ्खला के आक्रोड में नव सृजित जनपद सोनभद्र की पश्चिमोत्तर सीमा पर अवस्थित नैसर्गिक सुषमाभिमण्डित ख्यातिलब्ध प्राचीनतम् नगर सुन्दरीगढ़ अद्यतन विद्यमान है, जो शिविगढ़, शिवघर, शतद्वार के रूपों में कई उतार-चढ़ाव को झेलते हुए सम्प्रति शिवद्वार और सतद्वारी की स्वतन्त्र अस्मिता को निज अञ्चल में समेटे दक्षिणाञ्चल की धार्मिक भावना को उजागर करता हुआ शिव केन्द्र का ज्वलन्त उदाहरण है। भारतीय संस्कृति देश में एकरूपता की भावना को जागृत करने के उद्देश्य से अपनी सहचरी प्रकृति-नटी की सहायता से जहाँ काशी के उत्तरावर्ती क्षेत्र को उत्तर-काशी में परिवर्तित करती है, वहीं काशी के दाक्षिणात्य अटवी श्रृङ्खलाओं को दक्षिण-काशी अथवा-द्वितीय काशी का स्वतंत्र स्वरूप प्रदान करती है, जिसका परिक्षेत्र शिवद्वार से दक्षिण अगोरी तक विस्तृत रूप में फैला हुआ है, जो शिवगणों अघोरियों सन्त महात्माओं की निवासस्थली होने की गौरव-गरिमा से अभिभूत हो बड़हर और चौरासी की दीप्तमान स्थिति का संवहन करती है। हिमालय की बर्फानी श्रृङ्खलाओं के मध्य हरिद्वार अर्थात् क्षीरसागर अथवा वैकुण्ठ जाने का मार्ग प्रशस्त करता है वहीं विन्ध्य-विजयगिरि की शुष्क वनस्थली में शिवगणों सहित विहँसती शिवद्वार नगरी शिव के द्वार अर्थात् कैलाश तक की यात्रा को सुगम रूप प्रदान करती है।

शिवद्वार में अवस्थित शिव मन्दिर की प्राचीनतम् प्रतिमा अनेक विद्वान् कलाकारों का स्मरण कराती हुई अजन्ता-एलोरा के गुफा-चित्रों की स्मृति को जहाँ जीवन्त करती है वहीं चन्देलकालीन खजुराहो की मूर्तिकला और सङ्गतरासो की चतुरता मनः पटल पर कौंध उठती है। खजुराहो के चन्देल शासक महाराज गण्ड (१००८-१७ ई०) की शासनावधि में सृजित उमामहेश्वर की प्रतिमा, जो भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता के क्रमाङ्क-४६८ में संगृहीत है, से शिवद्वार की शिव-पार्वती प्रतिमा में काफी साम्य है, परन्तु शिवद्वार की प्रतिमा में जो लावण्य और भाव भङ्गिमा है उसकी किञ्चित अनुभूति भी उमामहेश्वर की प्रतिमा में नहीं होती उमा के हाथ मे दर्पण का होना भी खजुराहो की विवस्त्र जघना अञ्जन

धारिणी अप्सरा की लावण्यमयी प्रतिमा की स्मृति को जीवन्त करता है।

माहेश्वर शिव के वाम उरु पर अधीष्ठित भगवती उमा की भङ्गिमा कालिदास के कुमारसम्भवमहाकाव्यम् में वर्णित उमा के नखशिख वर्णन का अनुसरण करती है। कालिदास ने उमा का स्वरूपाङ्कन करते हुये लिखा है-सुन्दरता से विमुग्ध होकर शङ्कर ने जिसे अपने उरु पर अधिष्ठित कर लिया है ऐसे-अनिन्द्य पार्वती के काञ्चीगुणस्थान (नितम्ब) की शोभा का सहज ही अनुमान किया जा सकता है[१]। कालिदास के श्लोक का ही नहीं अपितु शिव के कर-पल्लव का शिवास्तन पर होना राक्षसराज लङ्केश्वर रावण-प्रणीत शिवताण्डव के श्लोक सात का भावाङ्कन प्रस्तुत करता है। अर्थात् जो गिरिराजनन्दिनी उमा के कुचाग्र भाग पर चित्रकारी करने में परम प्रवीण हैं ऐसे महादेव के विषय में हमारी प्रीति नित्यशः दृढ़ और बलवती होती रहे[२]। शिव और शिवा का सम्पृक्त स्वरूप 'रघुवंश' के मङ्गलाचरण के प्रथम श्लोक 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' का जीवन्त रूप तो है ही साथ-ही-साथ मूर्ति की सम्पूर्ण भाव- भङ्गिमा का रूपाङ्कन पण्डित रमानाथ जी का श्लाघ्य एवं स्तुत्य प्रयास है –

श्रीशिवद्वारमद्वैतभावास्पदं संसृतिघ्नं स्मृतं शामदं कामदम्।
तत्र शम्भोश्च प्राचीनताद्योतिका मूर्तिरेकास्थिता भव्य भावाप्लुता।।

– संक्षिप्तगोरीबड़हरपरिचयश्चन्द्रान्वयपरिचयश्च।।३३।।

शब्द और अर्थ के समान परस्पर एक दूसरे में मिले हुये की परिकल्पना कालिदास ने करते हुये जहाँ रघुवंश का प्रारम्भ किया वहीं उनका समर्थन करते हुये कविराज पण्डित रमाशङ्कर पाण्डेय 'विकल' ने शिवद्वाराधिपति आशुतोष और उनकी प्राणेश्वरी जगदीश्वरी उमा के स्वरूपाङ्कन सन्दर्भ में

१- एतावता नन्वनुमेय शोभि काञ्चीगुणस्थान मनीन्दितायाः।
आरोपितः यद्गिरिशेन पश्चादनन्य नारी कमनीयमङ्कम्।।
– कुमारसम्भवमहाकाव्यम्।।१।३७।।

२- धराधरेन्द्रनन्दिनी कुचाग्रचित्र पत्रक-
प्रकल्पनैकशिल्पिनी त्रिलोचने रतिर्मम।। -शिवताण्डव-७

लिखा है- पल भर में जन जीवन के अस्तित्व का सहज ज्ञान करा देने वाला शिवद्वार वह सुगम पन्थ है, जो शिव तक सद्यः पहुँचा देता है। शब्द और अर्थ सदृश सम्पृक्त शिव पार्वती का आलिङ्गन उसी प्रकार है जैसे सूक्ष्म भेद-प्रभेदों के अन्तर से युक्त भाषा में पर्यालोचन[१]।

भगवान् शिव और माँ पार्वती एक दूसरे को देखते हुये भाव विभोर-से जान पड़ते हैं। मूर्ति की सुन्दरता को निरखते समय दर्शनार्थी स्वयं इतने भाव विह्वल हो उठते हैं कि उनकी संज्ञा यह निर्णय करने में असमर्थ हो जाती है कि वे एक सामान्य साधक गृहस्थ हैं अथवा वानप्रस्थी संन्यासी। लगता है कि शिव और शिवा स्वयं एक दूसरे की भावना का प्रपठन कर रहे हैं[२]।

शिव-पार्वती की सम्पृक्त प्रतिमा शिवद्वार के मोती महतो नामधारी व्यक्ति को १३०५ फसली में हल चलाते समय प्राप्त हुई थी। सर्वप्रथम मोती महतो के द्वारा ही मन्दिर का निर्माण-कार्य सम्पन्न हो सका, परन्तु कालान्तर में बहुरिया अविनाशकुँअरि द्वारा भव्य मन्दिर का निर्माण अपने स्वर्गीय पति भूतपूर्व जमींदार बाबू जगतबहादुरसिंह गहरवार की स्मृति में कराया गया। तत्पश्चात् श्री श्री १००८ श्री स्वामी हरिचैतन्य ब्रह्मचारी जी महाराज (टीकरमाफी) की अध्यक्षता में बदरिकाश्रम के शङ्कराचार्य श्रीमद्भगवत्पादामृतपायी श्रीश्री १००८ श्री स्वामी विष्णुदेवानन्द जी महाराज (सम्प्रति ब्रह्मलीन) के द्वारा सन् १९८५ ई० में वैदिक रीति से पुनः प्राणप्रतिष्ठा

१- अस्तित्व ज्ञान जन-जीवन का
पल भर में सहज करा देता।
शिवद्वार एक वह सुगम पन्थ
जो शिव तक है पहुँचा देता।।
सम्पृक्त शब्द औ अर्थ सरिस
शिवपार्वती का आलिङ्गन।
शूक्ष्मांतर भेद-प्रभेदों का
भाषा में ज्यों पर्यालोचन।।

-शोणभद्राञ्चल, प्रथम-खण्ड ।।२०-२१।।

२- अपलक उमा को निहारते हैं बार-बार,
मानों शिव भावना की पाती बाँच जायेंगे।
चक्षु से सलज्ज प्रीति आँकते हैं मौन मूक
लगता है रसराज खुद नाँच जायेंगे -स्वप्रणीत

की गई। तब से अद्यतन प्रतिमा उसी मुद्रा में विद्यमान है। सन् २००० ई० में मन्दिर का सुन्दरीकरण किया गया, जिससे शिवद्वार की अलौकिक आभा में उत्कर्ष अम्बर में चन्द्रवत चरितार्थ हुआ। मन्दिर के उत्तर शोढ़रीगढ़ है, जो पूर्वकाल में सुन्दरीगढ़ के रूप में था, के ध्वस्त खण्डहर अपने भग्न कलेवर मे छिपे इतिहास को उकेरने हेतु समुद्यत प्रतीत होते हैं। सुन्दरीगढ़ से जुड़ी अनेक लोक कथाएँ उसकी महत्ता को प्रतिपादित करती हैं। सोनवा का कथानक चरणाद्रिगढ़ (चुनार) से इसका सम्बन्ध स्थापित करने का सबलतम् माध्यम है। इतना ही नहीं अवन्तिका (उज्जयिनी) भी इसके साथ सम्बन्ध स्थापित करने में गर्व की अनुभूति करती है। इतिहास साक्षी है कि कभी मगध का तो कभी कौशाम्बी का और कभी काशी का आधिपत्य इस क्षेत्र पर रहा है, जिसकी सम्प्रभुता, सुसम्पन्नता इतिहास प्रसिद्ध है। तालजङ्घो के विद्रोह से संत्रस्त अयोध्यापति बाहु को अपने राज्य से हाथ-धोना पड़ा, किन्तु परवर्ती परिणति में इस शिवद्वार क्षेत्र को अयोध्या के उच्च सूर्य्य केतु के संरक्षण का परम सौभाग्य प्राप्त हो सका। यह गौरव की बात है।

आज संस्कृति विनस्यता के कगार पर है। पुरातत्व का संरक्षण भी इस क्षेत्र को किञ्चित भी प्राप्त नहीं हुआ है। यदि इस दिशा में क्रान्तिकारी कदम न उठाया गया तो अनेक बिखरी विखण्डित और सर्वाङ्ग सुन्दर प्रतिमाएँ सर्वथा के लिए नष्ट हो जायेंगी, जिससे उत्तरी भारत के इतिहास की नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीय मूर्तिकला के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय समाप्त हो जायेगा। इसमें किञ्चित भी सन्देह नहीं।

शिवप्रतिमा : कला और मूल स्रोत

कलाकार जब कोई सृजन करता है, उसमें उसकी अपनी एक मौलिकता होती है। उसके पीछे एक आदर्श होता है। धर्म का, समाज का, जाति का, देश का तथा समग्र रूप से अपनी संस्कृति का एक शाश्वत रूप होता है। कलाकार अपनी कृति को विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों के सङ्गम के रूप मे प्रतिस्थापित करते हुये समाज को नई सीख देकर कुछ सोचने के लिए विवश कर देता है। चाहे खजुराहो की वस्त्रहीना नर्तकी हो, या अजन्ता-एलोरा के गुफाचित्र। सबके माध्यम से कला के आचार्यों ने भावी पीढ़ी को जीवन के विभिन्न पहलुओं का बोध कराने हेतु सराहनीय कार्य किया है।

इसी प्रकार जनपद शोणभद्र (सोनभद्र) के सुन्दरीगढ़ (शिवद्वार) नामक प्राचीन नगर में जगज्जननी माँ पार्वती सहित भगवान शङ्कर की दिव्य प्रतिमा अवस्थित है जिसमें मूर्तिकार ने विभिन्न काल की भिन्न-भिन्न शैलियों का वडे सहज ढङ्ग से समागम किया है। प्रतिमा का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि मूर्तिकार ने वैदिक धर्म-ग्रन्थों से लेकर ऐतिहासिक ग्रन्थों में वर्णित माँ पार्वती और शिव स्वरूप को एक ही मूर्ति के अन्तर्गत ढालने का प्रयत्न किया है।

उस अज्ञात महान् मूर्तिकार ने माँ पार्वती के कर-कमलों में मानों यह विचार कर दर्पण पकड़ाया है कि इस दर्पण में भक्त गण समस्त वेद, वेदान्त, सांख्य, मीमांसा, उपनिषद्, स्वर्ग, नर्क, पाताल, आदि, अन्त तथा उनके मन में जो कुछ भी आये, की छवि निरख सकें।

भगवान शङ्कर का हाथ कलाकार ने माँ पार्वती के स्तन पर रखकर सहज में ही प्रभु विश्वनाथ के उस रूप को चित्रित किया है, जिसकी वन्दना करते हुए राक्षसराज रावण ने लिखा है-जो हिमाद्रिनन्दिनी पार्वती के कुचाग्रभाग पर चित्रकारी करने में परम पटु हैं, ऐसे त्रिलोचन महादेव के विषय में मेरी प्रीति होवे[1]।

माँ पार्वती को भगवान शङ्कर की गोद में रखकर लालित्यकला-प्रवीण

१- धराधरेन्द्रनन्दिनी कुचाग्रचित्रपत्रक-
त्रिलोचने रतिर्मम

कृतिकार ने अपनी कामुकता का परिचय नहीं दिया है, वरन् अपनी विद्वत्ता का परिचय देते हुये माँ पार्वती के उस रूप को भक्तगणों के समक्ष प्रस्तुत करता है, जिसका अनुमान करते हुये कविकुलगुरु कालिदास ने लिखा है-जिसके पीछे महादेव ने अन्य इच्छा के अविषय अपनी गोद में रख लिया, अनिन्दित (पार्वती) के काञ्चीगुण के स्थान (नितम्ब) की शोभा का इतने ही से अनुमान किया जाता है[१]।

मूर्ति के सम्पूर्ण हाव-भाव को देखते ही भागवत की एक कथा का स्मरण हो आता है। एक दिन राजर्षि चित्रकेतु भगवान् के दिये हुये तेजोमय विमान पर सवार होकर कहीं जा रहे थे। इसी समय उन्होंने देखा कि भगवान् शङ्कर बड़े-बड़े मुनियों की सभा में सिद्ध-चारणों के बीच बैठे हुये है और साथ ही भगवती पार्वती को अपनी गोद में बैठाकर एक हाथ से उन्हे आलिङ्गन किये हुये हैं, यह देखकर चित्रकेतु विमान पर चढ़े हुये ही उनके पास चले गये और पार्वती को सुना-सुना कर जोर से हँसने और कहने लगे[२]।

भगवान् शङ्कर के द्वारा पार्वती का बीच सभा में आलिङ्गन करने पर चित्रकेतु का हँसना और भगवान् शङ्कर का उपहास करना तथा पार्वती के द्वारा चित्रकेतु को असुर योनि में परिणित होने का शाप आगे की कथा में वर्णित है।

उक्त कथा और मूर्ति की पृष्ठभूमि में कोई अन्तर नहीं है। भले ही मूर्तिकार को इस कथा का परिज्ञान न रहा हो परन्तु एक भक्त भगवान् के चरित्र को जिस प्रकार आपनी रचना में घटित करता है, कालान्तर में वही सत्य होता है। कितना निर्मल और शुद्ध भक्त और भगवान् का अन्तः सम्बन्ध है।

इतना ही नहीं महागौरी और महादेव के इस स्वरूप को जगत् के समक्ष प्रदर्शित करने में कृतिकार ने जाति, धर्म जैसे गुणों की रक्षा करने का सर्वथा निर्वाह किया है। फलस्वरूप जैन और बौध धर्मो के अनुयाइयों में भी विलासिता का सागर लहराया, जिससे धर्मों में सर्वश्रेष्ठ सनातन धर्म का उत्थान हो सका।

१-एतावता नन्वनुमेय शोभि-
काञ्चीगुणस्थान मनिन्दितायाः।
आरोपितः यद् गिरिशेन
पश्चादनन्य नारी कमनीयमङ्कम्।। -कुमारसम्भवमहाकाव्यम्।।१।३७।।

२-एकदा स विमानेन विष्णुदत्तेन भास्वता।
गिरिशं ददृशे गच्छन् परीतं सिद्ध चारणैः।।
आलिङ्ग्याङ्कीकृतां देवीं बाहुना मुनि संसदि।
उवाच देव्याः श्रृण्वत्या जहासोच्चैस्तदन्तिके।। -श्रीमद्भागवत् ।।६।१७।४-५।।

माँ पार्वती ओर भगवान शङ्कर की इस प्रतिमा मे सम्पूर्ण धार्मिक ग्रन्थों की धार्मिकता नाट्यशास्त्र का पूर्णाभिनय, सङ्गीतशास्त्र की समस्त राग-रागिनियाँ, भक्तिकाल की समग्र भक्ति-भावना तथा रीतिकाल की श्रृङ्गारिकता चतुर संगतराश की प्रखर टाँकियों द्वारा सिमटकर एकाकार हो गई। यही नहीं भगवान शङ्कर और माँ पार्वती की इस प्रतिमा में कृतिकार की वारीक टाँकियों से चौथी तथा सर्वश्रेष्ठ प्रेमगङ्गा का उद्गम हुआ है, जिसके माध्यम से कृतिकार तात्कालिक छल-प्रपञ्च को तोड़कर विश्वबन्धुत्व को स्थापित करना चाहता है। इस प्रतिमा द्वारा कृतिकार ने मात्र प्रेम करने का सन्देश दिया है, विलास करने का नहीं, साथ ही उसने यह भी सन्देश दिया है कि जो भी करो स्वार्थलोलुपता से ऊपर उठ कर करो, तभी इस धरती का कण-कण सुरभित हो सकेगा। मर्ति में जो अनेक देवी-देवताओं का सुन्दर समन्वय है, उसके माध्यम से कृतिकार की टाँकियाँ हमें सदुपदेश देते हुये मानों यह लिखने की प्रेरणा देती हैं-

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माँ कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्।।'

साथ ही साथ विश्व को ही अपना कुटुम्ब मानने के लिए सङ्कल्पित करते हुये हमें सीख देती है कि 'उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।' जब कोई भी श्रद्धालु भक्त भगवान् शङ्कर सहित जगज्जनी माँ पार्वती की इस प्रतिमा का दर्शन कर विश्वबन्धुता, निष्कपटता, निः स्वार्थता तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे आदर्शमय गुणों को शिरोधार्य कर विश्व कल्याण की मङ्गलकामना करते हुये ऊँच-नीच की भेद-भावना को त्यागकर सर्वमङ्गल का प्रयत्न करेगा, तभी कृतिकार की सोच, उसका आदर्श, उसकी विद्वत्ता तथा निष्कपटता 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का स्वरूप होकर विश्व का कल्याण करेगी ऐसा मेरा अटल विश्वास है। महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त का दृढ़ विश्वास है कि प्रज्ञा का वह सत्यस्वरूप हृदय में अपार प्रणय का रूप धारण करता है तथा लोचनों का अनूप लावण्य लोक सेवा में निर्विकार शिव की तरह सन्नद्ध होता है[1]।

१- वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,
हृदय में बनता प्रणय अपार।
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव अविकार।। -पन्त

शिवद्वार और सङ्गीत का लयात्मक अन्तः सम्बन्ध

शिवद्वार पुराकाल से ही प्रसिद्ध धार्मिक शिव नगरी है। इसे शिवगढ़, सुन्दरीगढ़, सोढ़रीगढ़ इत्यादि भी कहा जाता था। शिवद्वार और सङ्गीत का लयात्मक अन्तःसम्बन्ध सृष्टि-संरचना काल से ही रहा है। सङ्गीत और शिवद्वार के अन्तः सम्बन्ध पर दृष्टिपात करने से पूर्व सर्वप्रथम सङ्गीत क्या है? तथा इसकी उत्पत्ति किस प्रकार सम्भव हुई? जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है।

'गै' धातु से भाव में 'क्त' प्रत्यय करके गीत शब्द बनता है। यथा- गीयते इति गीतम्। अमरकोषकार ने गीत और गान शब्द को समानार्थक माना है[१]। भट्ट श्री हलयुध ने 'अभिधानरत्नमाला' में गीत और गान शब्द को परस्पर एक दूसरे का पर्याय माना है[२]। चिरकाल से अद्यतन यह शब्द निरक्षर साधारण जनता से लेकर साहित्याब्धि का अवगाहन करने वाले प्रकाण्ड धर्म-धुरीण पण्डितों द्वारा भी गान के अर्थ में निरन्तर प्रयुक्त होता चला आ रहा है। कालिदासादि महाकवियों ने भी गीत शब्द का प्रयोग गान के अर्थ में किया है[३]। इसी शब्द में सम् उपसर्ग लगाकर 'सङ्गीत' शब्द बना है। गीत और सङ्गीत शब्द के अर्थ में परस्पर विभेद है, वाद्य और नृत्य के साथ को गीत कहते हैं[४]।

भारतीय इतिहास के आरम्भ में और मध्यकाल में नागरिकों की गोष्ठी और परिषदों में सङ्गीत, नृत्यकला तथा काव्य चर्चा के प्रति अत्यधिक अभिरुचि पायी जाती थी। महर्षि वात्स्यायन के 'कामसूत्र', महाकवि दण्डी के 'दशकुमारचरित' तथा महाकवि बाणभट्ट प्रणीत 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' में इसका स्पष्ट उल्लेख है। वस्तुतः सङ्गीत नागरिक जीवनविलास का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। पुराकाल में इसके ज्ञान के बिना मानव शिष्ट और सुसंस्कृत समाज में आदर और सम्मान का अधिकारी नहीं समझा जाता था। यही नहीं योगिराज भर्तृहरि ने इससे अनभिज्ञ मनुष्यों को पूँछ और सींग से

१- गीतं गानमिमे समे - अमरकोष ।।१।२५।।

२- गीतं गानमिति प्रोक्तम् - अभिधानरत्नमाला ।।१।६।।

३- आर्ये, साधु गीतम्। तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं कृतः। -अभिज्ञानशाकुन्तल।१।

४- गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं सङ्गीतमुच्यते। - सङ्गीतरत्नाकर

विहीन पशु की सज्ञा प्रदान की[१]।

वैदिक ऋषियों को भी सङ्गीत का अच्छा ज्ञान था। ऋग्वेद के बहुत से मन्त्र सङ्गीत तत्व से पूर्णतः ओतप्रोत हैं। गेय पदों के समान वैदिक मन्त्रों मे पदवृत्ति पायी जाती है[२]। मन्त्रों को पढ़ने के लिए उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित, इन तीन स्वरों का प्रयोग किया जाता है। वैदिक काल में आर्यगण इन ऋचाओं को गा-गाकर पढ़ते थे। ऋग्वेद की तुलना में सामवेद के मन्त्रो में गीततत्व अधिक है। इसी से यह वेद आर्चिक और गेय, इन दो भागों मे विभक्त है। गेय भाग को यज्ञ के समय उद्गातागण मधुर-स्वर से गाते थे। सामवेद में दुन्दुभि, स्कन्दवीणा, वीणा आदि वाद्य यन्त्रों का उल्लेख है।

समयानुसार सङ्गीत को शास्त्र का रूप दिया गया। संस्कृत भाषा मे इस विषय पर विद्वानों ने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखे। उनमें से कतिपय तो विनष्ट हो गये कुछ शेष हैं, जिनमें से शास्त्रीयगायन के प्रेमी पण्डितों की मण्डली में आज भी राजकुमार जगदेवमल्ल कृत 'सङ्गीतचूड़ामणि', महाराज हरपाल प्रणीत 'सङ्गीतसुधाकर', सोमराजदेव प्रणीत 'सङ्गीतरत्नावली', शारङ्गदेव विरचित 'सङ्गीतरत्नाकर', अल्लराज विरचित 'रसतत्वसमुच्चय', पार्श्वदेव प्रणीत 'सङ्गीतसमयसार', भुवनानन्द कृत 'विश्वप्रदीप', महाराणा कुम्भा कृत 'सङ्गीतराज'

१- साहित्यसङ्गीतकला विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः - भर्तृहरिशतकत्रय

२- इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति। कुवित्सोमस्यापामिति।।
प्रवाता इव दोधत उन्मा पीता अयंसत। कुवित्सोमस्यापामिति।।
उन्मा पीता असंयत रथमश्वा इवाशवः। कुवित्सोमस्यापामिति।।
उप मा पतिरस्थितवाश्रा पुत्रमिव प्रियम्। कुवित्सोमस्यापामिति।।
अहं तष्टेव बन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम्। कुवित्सोमस्यापामिति।।

-इत्यादयः ऋग्वेदस्याष्टमाष्टकस्य - १-१२ मन्त्राः।

- तथा-

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं तस्यदेवाः।
यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मैदेवाय हविषा विधेम।।
यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इन्द्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।
यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसवा सहाहुः।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

इत्यादय [illegible] १ १०मन्त्रा

ग्रन्थ विशेष लोकप्रिय हैं। इन ग्रन्थों में सङ्गीत सन्दर्भित स्वर, ताल, लय, मूर्च्छना, ग्राम, राग प्रभृति का विवेचन विश्लेषण लक्षण सहित किया गया है।

'सङ्गीत क्या है ?' जैसी जिज्ञासा की शान्ति के पश्चात् भी सङ्गीतोत्पत्ति के सन्दर्भ में जानना आवश्यक प्रतीत होता है। सङ्गीतोत्पत्ति को विभिन्न भारतीय देवी-देवताओं से सम्बद्ध किया गया है, इसमें शिव प्रमुख हैं। परम्परानुसार ब्रह्मा ने शिव को, शिव ने सरस्वती को, सरस्वती ने नारद को सङ्गीत की शिक्षा प्रदान की। तदनन्तर देवर्षि नारद ने स्वर्ग के गन्धर्व, किन्नर, यक्ष तथा अप्सराओं को सङ्गीत ज्ञान की दीक्षा देकर सङ्गीत का व्यापक प्रचार किया।

'नन्दिकेश्वरकारिका' एवम् 'रुद्रडमरूद्भव सूत्र विवरण' प्रभृति ग्रन्थों मे स्पष्ट वर्णित है-नटराज शिव ने नृत्य समाप्त होने के पश्चात् सनकादि सिद्धों के उद्धारार्थ चौदह बार डमरू को बजाया, जिससे व्याकरण के मूलभूत चौदह सूत्रों का आविर्भाव हुआ। उन्हीं चौदह सूत्रों में से प्रथम सूत्र 'अइउण्' से 'स रे ग' इन सांगीतिक स्वरों का सम्बन्ध है[१]। आचार्य मतङ्ग कृत 'वृहद्देशी' के अनुसार भी देशी व मार्गी सङ्गीत की उत्पत्ति शङ्कर के मुख से बताई गई है[२]।

भारतीय परम्परानुसार ब्रह्मा और शिव सङ्गीत के आदि आचार्य हैं। यही दोनों सृष्टि के सृजन व संहारकर्ता भी हैं। सङ्गीत ही नहीं अन्य विद्याओं के भी यही दो आदि आचार्य माने गये हैं। कल्पभेद से कभी प्रधान ब्रह्मा होते हैं तो कभी प्रधान शिव और कभी भगवती भी प्रधान होती हैं। जिस कल्प में जिसकी प्रधानता होती है उस कल्प की विद्याओं के कर्ता भी वे ही होते हैं।

शिवद्वार भगवान् शिव की आदि नगरी है। यहाँ भगवान् शङ्कर जगज्जननी भगवती गिरीशजा के साथ निरन्तर रमण करते हैं। शिवद्वार के प्रधान मन्दिर में अवस्थित आशुतोष भगवान् शिव की प्रतिमा सङ्गीतोत्पत्याख्यान का जीवन्त स्वरूप है। देवर्षि नारद की अनेक वर्षों की योग साधना से महादेव शङ्करजी ने प्रसन्न होकर उन्हें सङ्गीत-कला प्रदान की। योगसाधना से महादेव ने पार्वतीजी की शयन मुद्रा को देखकर उनके अङ्गप्रत्यङ्गों के आधार पर 'रुद्रवीणा' की रचना की तथा अपने श्रीमुख से पञ्चरागों का सृजन किया। तत्पश्चात् षष्टम्

१- अइउण् सरिगाः स्मृताः । - रुद्रडमरूद्भव ।।२६।।

२- महादेव मुखोद्भूतान देशी मार्गे च संस्थितान। - वृहद्देशी ।।८८।।

राग पार्वती से उत्पन्न हुआ शिवजी के पूर्व पश्चिम उत्तर तथा दक्षिण एवम आकाशोन्मुख से क्रमशः भैरव, हिंडोल, मेघ, दीपक और श्रीराग का प्राकट्य हुआ और पार्वती द्वारा कौशिक राग की उत्पत्ति हुई।

शिव द्वारा पञ्चरागोत्पत्ति करने के पश्चात् सोई हुई पार्वती ने निद्रा का परित्याग कर अलसाई लता के समान कौशिक राग को उत्पन्न किया। उसी समय भगवान शङ्कर ने सद्यः निद्रा का परित्याग करने वाली अलसाई हुई पार्वती को अपने उरु पर अधिष्ठित कर जगज्जननी को प्रसन्न किया। इसी दृष्टान्त को प्रदर्शित करते हुये कला के अप्रतिम अनाम आचार्य ने शिवद्वार की शिव-पार्वती प्रतिमा का सृजन किया। यही नहीं एक और भी सङ्गीतोत्पत्याख्यान शिवद्वारस्थ शिव-पार्वती की सम्पृक्त प्रतिमा में अनुस्यूत है। यथा 'शिवप्रदोष स्त्रोत्र' के अनुसार शिव ने गौरी को स्वर्ण-सिंहासन पर अधिष्ठित कर प्रदोष के समय शूलपाणि नृत्य करने की इच्छा प्रकट की। इस अवसर पर सम्पूर्ण देवता उन्हें आवृत कर खड़े हो गये तथा उनका स्तुति गान करने लगे। लक्ष्मीजी गाने लगीं और भगवान् विष्णु मृदङ्ग बजाने लगे। इस सङ्गीतोत्सव को देखने के लिए गन्धर्व, यक्ष, पतङ्ग, उरङ्ग, सिद्ध, साध्य, विद्याधर, देवता एवम् अप्सरा आदि सभी उपस्थित थे।

इसी दृष्टि से मूर्ति का अवलोकन करें तो स्पष्ट होता है कि नन्दी बैल पर विराजमान भगवान् शिव के दो हाथों में त्रिशूल, डमरू और फणीन्द्र तथा तृतीय हाथ से शिवा के स्तन और चतुर्थ से मुखाग्रभाग का संस्पर्श शूलपाणि नृत्य का सङ्केत है। मूर्ति के चतुर्दिक् विष्णु आदि देवी देवताओं तथा यक्ष, गन्धर्व, अप्सराओं की मूर्तियाँ नृत्य-दर्शन की अभिलाषा में खड़े दर्शक की प्रतीक हैं।

मूर्ति में प्रदर्शित भावों से साम्य रखती हुई अतिरञ्जित कल्पनाएँ गीत काव्यों में बहुलता से प्राप्त होती हैं। श्रीमन्मैथिलभीष्ममिश्र विरचित गीतशङ्करः में शिव-पार्वती का प्रणयाह्लाद द्रष्टव्य है। यथा[1] 'सज्जनों के लिए एकमात्र (आश्रय), सुन्दरमति वाले (विवेकशील) अनाम (किन्तु) जगत् के स्वामी वह शङ्कर, हृदय में गिरिजा को धारण करने के कारण (अपनी) सांसारिक स्थिति - सी प्रदर्शित करते हुये, (अपनी जगत्पतिवालीछवि) उसको त्याग दिये। आश्चर्य है, पूर्वकाल में कामदेव को दग्ध करने वाले शङ्कर प्राकृत (सामान्य) जनों की

१ शिवशङ्कर त्रिपाठी गीतशङ्कर पृष्ठ ३२

प्रकृति तुल्य काम से प्रभावित होकर अनेक स्थानों पर पार्वती को ढूढते हुये (न पाकर) दुःखी हो उपत्यका में बैठ गये। ईशान कोप से दग्ध रतिपति के शरीर का भस्म समीप होने से निकट ही उपस्थित पार्वती के गम्भीर नाभि-विवर (नाभि रूप गहरा सरोवर) में अकस्मात् गिर पड़ा, लज्जावश, नमित उनके मुख-चन्द्र से द्रवित होकर टपके अमृत का संयोग प्राप्त कर कामदेव जीवित होकर पुनः शङ्कर को जीतने का अभिलाषी बन गया है[१]।

गीतशङ्करः के उक्त अंश के अतिरिक्त गीतगिरीशम् के कई सन्दर्भ शिवद्वारस्थ शिव-पार्वती प्रतिमा में अन्तर्निहित भाव को व्यक्त करते हैं। कामदेव के आनन्द-सागर में निमग्न शिव ने पार्वती के कुच-कलशों का आश्रय प्राप्त करने की अभीप्सा से पार्वती से कहा[२] 'हे पार्वती! तुम मेरे मन के रूप में हो, आँख, शरीर व मेरे प्राणों के रूप में हो, यह सच कह रहा हूँ। मेरे मुँह को उठा कर अमृतवर्षी लोचन युगल से मुझ दास को कृतार्थ करो। हे सुन्दर चरित्रवाली! तुम मुझसे बातें तो करो, तथा चुपके से मेरा आलिङ्गन करके अपनी दन्तद्युति-रूप चन्द्रिका से मेरे काम-सागर को उद्वेलित करो। हे शिवे! काजल से काले टपकते हुये आसुओं से गीला यह तुम्हारा मुख ऐसा लगता है जैसे कण्ठ तक रात के अंधेरे को पीकर चन्द्रमा पेट में न समाते हुये उस अन्धकार को उगल रहा हो, कै कर रहा हो। हे शिवे! यदि तुम मेरा विश्वास नहीं करती तो मैं अपने मन की शुद्धि की परीक्षा के लिए दिव्य (अग्न्यादि परीक्षा) देने को तैयार हूँ। मैं तुम्हारे अधरामृत के खजाने का पान करता हूँ तथा दिव्य पक्ष में पाताल लोक में गड्ढा खोदकर उसमें बैठ जाता हूँ। तथा मुझपर खूब (अतनु) आग जलाओ। फिर भी यदि मेरा शरीर बच जाय न जले तो मेरी बातों पर अपनी बुद्धि स्थिर कर लेना। हे सुन्दरि! तुम्हारे कोप को हटाने के लिए एक मात्र प्रणाम को ही कारण मानता हूँ। अतः मैं

१- सतां गतिश्चारुमतिर्जगत्पतिर्विनामधेयैरपि तामपाश्य सः।
जगाम चित्ते गिरिजां निधाय तत्, संसारितां दर्शयतीव शङ्करः।।
अहो! पुरा दग्धमनोभुवो भुवो, मनोजनेः प्राकृतिकेधियावशः।
उपत्यकायां निषसाद दुःखितो, बहुस्थलान्वेषित शैलकन्यकः।।
दग्धस्येशानकोपाद्रतिपति वपुषोभस्मसान्निध्यतो यद्,
गौरीगम्भीरनाभी ह्रदमनुपतितं दैवयोगेन चाऽपि।
लज्जानम्रैस्तदीयाननविधुगलिताच्छिन्नपीयूष योगात्,
तस्माज्जातः सकामः पुनरपि गिरिशं प्रावशो जेतुकामः।। गीतशङ्करः ।।४।१-३।।

२- डॉ० प्रभात शास्त्रीः गीतगिरीशम्, पृष्ठ -६८-७०
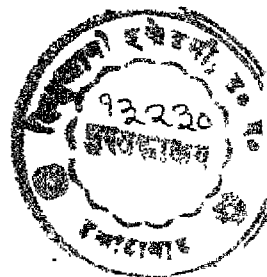
अपने अलक पुञ्ज (जटाजूट) को तुम्हारे सौन्दर्य-सागर भूत चरण कमलों पर विलोठित करने को तैयार हूँ। हे शिवे! यदि तुम मुझे सापराध मानती हो तो अपने स्तन-पर्वतों के दुर्गम चोटियों पर पटक मारो तथा मेरे बाल खींच कर मुझे लतावेष्टितक से बाँध दो। अपनी छाती से बाँध दो तथा मुझे कहीं न जाने को यह दण्ड दो। (लतावेष्टितक नामक एक कामासन होता है।) तथा मुझ अपराधी को यह भी दण्ड दो कि मेरे ऊपर ऐसे जोर से पाद-प्रहार करो कि नूपुरध्वनि इतने जोर से उठे कि जैसे मानो मत्तकामद्वीप की ढोल जैसी चिघाड़ हो। तथा मेरे शरीर को अपने तीक्ष्ण नखों से ऐसा नोच डालो कि देखने वाले कहें कि यह नख की चोट तो काम के बाणों की चोट से बढ़ कर है। हे कमलमुखि! शिवे! तुम अपनी भृकुटी रूपी सर्पिणीद्वय के डसने से उत्पन्न मेरी मूर्च्छा को अपना अधरामृत पिलाकर दूर कर दो क्योंकि मैं तुम्हारे कमल कोमल चरणद्वय की सेवा करने वाला सेवक ही तो हूँ[1]।'

गीतकाव्यों की अतिरञ्जनापूर्ण वर्णना को लयाधृत गति प्रदान करने वाली शिवद्वारस्थ शिव-पार्वती प्रतिमा जहाँ सङ्गीतोत्पत्याख्यान मूर्त रूप मे उपस्थित करती है वही शिवद्वार के प्राचीन संस्कृत कवि योगेश्वर ने पार्वती को नृत्त सिखाने में तल्लीन भगवान् शङ्कर का वर्णन करते हुये लिखा है-हे

१- मम मनोऽसि प्रिये! चक्षुरसि तनुरसि प्राणञ्चकमसि च सत्यम्।
वदनमुन्नाम्य पीयूपरसवर्षिणा लोचनेन स्नपय भृत्यम्।।
शिवे! रुचिरचरिते! रचय मयि वचनमविकारम्।
मौनमपमुह्य रदचन्द्रिकाभिर्ममातन्वतनुसागरमपारम्।।
कज्जलश्यामलितमश्रुविस्तु तमिदं वहति सुमुखी मुखमुपमानम्।
आगलन्निशि तमिस्त्रन्निपीयाऽऽशु किं चन्द्र उद्गिरति तदमानम्।। शिवे! रुचिर०!
विश्वसिषि मद्वचसि चेन्न दिव्येन तद् भावये मम मनस· शुद्धिम्।
अधरकोशं धयाम्यतनुतक्षस्तनन्धारयामि स्थिरय बुद्धिम्।। शिवे! रुचिर०!
कोपलोपक्षमन्तन्वि! तव नापरन्नतिमृते मम मनसि जाने।
मदलकालिकुलमपि तव चरणसरसिजे शीलतु सौभगनिधाने!।। शिवे! रुचिर०!
स्तनशिखरिविकटतटसङ्कटे निः क्षिपावैषि यदि मामिह समन्तुम्।
चिकुरकर्षणयुतं कुरु लताऽऽवेष्टितकमुरसि रुद्धन्न दिशं गन्तुम् ।।शिवे! रुचिर०!
मत्तमदनद्विपप्रकटपटहारवं घटय मणिनूपुर ध्वानिम्।
कुसुमशरघातसंघातजित्वरतरन्देयमपि नखरपददानम्।। शिवे! रुचिर०!
भृकुटीभुजगीयुगप्रचितमधराऽमृतेनाऽपहर नलिनमुखि! मोहम्।
कमलकोमलपदद्वितयपरिचारणाऽनुचर एवाऽस्मि तव सोऽहम्।। शिवे! रुचिर०!
—गीतगिरीशम् १० १

सुन्दर भ्रूरेख वाली पार्वता इस प्रकार हस्त-लता को स्थापित कर ऐसा स्थिति करा, सकुचित अग्र चरण को अत्यधिक मत झुकाओ, क्षण मात्र हमारी ओर देखो। मेघ के समान गम्भीर ध्वनि करने वाले अपने मुख-मुरज से भगवती गौरी को नृत्त कराते हुये भगवान् शङ्कर की प्रासलयच्छेद के समय बजायी गई तालियाँ सुखी करें[1]। इसी प्रकार योगेश्वर ने शिव के ताण्डव सज्जा के समय परस्पर वार्तालाप का चित्रण करते हुये लिखा है-हे नन्दी! खञ्जन के समान मधुर नाद करने वाले मुरज को लेकर तैयार हो जाओ। हे कृष्माण्ड! भस्मपात्र को यहाँ ले आओ। हे लम्बोदर! आओ । हे देवि! मन्दिर मध्यवर्ती स्कन्द को प्रसन्न करो। इस प्रकार नृत्ताङ्गण में भगवान् शङ्कर की ताण्डव सज्जा में एक तान मन वालों का परस्पर संलाप तुम्हारी रक्षा करे[2]।

शङ्कर और पार्वती से सङ्गीत की उत्पत्ति और शिवद्वार के प्राचीन सस्कृत कवि योगेश्वर द्वारा शिव ताण्डव एवं पार्वती को नृत्त सिखाने का वर्णन सङ्गीत का शिवद्वार से लयात्मक अन्तः सम्बन्ध नहीं तो और क्या है?

शिव-पार्वती की प्रतिमा के अतिरिक्त शिवद्वार के चतुर्दिक् बिखरी भग्न प्रतिमाओं एवं पर्वत कन्दराओं में स्थित शैलाश्रित चित्रों में सङ्गीत की लयात्मक अनुगूँज सुरक्षित है और अनन्त काल तक सुरक्षित रहेगी।

शिवद्वार से दक्षिण-पूर्व स्थित खजुरी नामक स्थान में अवस्थित एक नृत्यरत देवाङ्गना की मूर्ति उल्लेखनीय है, जिसमें उसका दाहिना हाथ सिर के पीछे से वाम-स्कन्ध का संस्पर्श करता हुआ कटार से सुशोभित है। सिर वायीं ओर झुका हुआ है। वायां हाथ जङ्घे के पास वस्त्र पकड़े हुये है। कर्णाभरण, अनावृतस्तन, गम्भीर नाभि से युक्त नृत्याङ्गना महिष मस्तक पर अधिष्ठित है। वहीं एक अश्वथ वृक्ष के नीचे कतिपय मूर्तियाँ बिखरी पड़ी हैं,

---

१- एवं स्थापय सुभ्रु बाहुलतिका मेवं कुरु स्थानकं
नात्युच्चैर्नम कुञ्चिताग्रचरणं मां पश्य तावत्क्षणम्।
गौरीं नर्तयतः स्ववक्त्रमुरजेनाम्भोधरध्वानिना-
शाम्भोर्वः सुखयन्तु लम्भितलयच्छेदाहतास्तालिकाः।।

-सदुक्तिकर्णामृतम् ।।१।६।२६।।

२- नन्दिन् खञ्जनमञ्जुनादमुरजं संगृह्य सज्जीभव
कुष्माण्डानय भस्मभाजनमितो लम्बोरागम्यताम्।
स्कन्दं नन्दय मन्दिरोदरगतं देवीति रङ्गाङ्गणे
शम्भोस्ताण्डवमण्डनैकमनसः संजल्पितं पातु वः।।

-वहीं ।।१।१६।६२।।

जिसमे एक नृत्याङ्गना की प्रतिमा उल्लेखनीय ह शिवद्वार वरकन्हरा महाव वरदिया तथा देवगढ़ में बिखरी प्रतिमाओं में बहुत-सी मूर्तियाँ वाद्ययन्त्रो से सुसज्जित हैं। शिवद्वार मन्दिर के चबूतरे में जड़ी एक मूर्ति में सामुहिक रूप से वाद्ययन्त्रों का प्रयोग करते हुये नृत्यरत नर नारियों का अङ्कन किया गया है इस प्रकार की नृत्यरत प्रतिमाएँ शिवद्वार क्षेत्र में बहुलता से प्राप्त होती हैं, जो निश्चय ही तात्कालिक सङ्गीत की समृद्धि का द्योतक हैं।

शैलाश्रित गुफाचित्रों में नृत्यरत नर-नारियों के चित्र अत्यधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं। देवगढ़ स्थित दुअरा, बलुहा, कोहबरवा और मुक्खादर्र के शैलाश्रितों में अनेकशः नृत्यरत चित्र प्राक्युगीन सङ्गीत की महत्ता को प्रतिपादित करते हैं। नृत्य के अतिरिक्त सङ्गीत की उत्पत्ति में पशु पक्षियो की ध्वनि का अत्यन्त महत्व है। सङ्गीतशास्त्र में विभिन्न पशुपक्षियों की बोलियों का ही मानवीय अनुकरण सप्त-स्वर हैं।

'षडजं वदति मयूरो' अर्थात् मयूर षड्ज में बोलता है, यह वही कह सकता है जिसे प्रत्यक्ष षड्ज का पूर्व से ही ज्ञान हो। आचार्य मतङ्ग ने वृहद्देशी ग्रन्थ में उक्त प्रकरण का वर्णन करते हुये लिखा है-मयूर षड्ज में, चातक ऋषभ में, बकरी गान्धार में, क्रौञ्च मध्यम में, बसन्त ऋतु में कोकिल पञ्चम मे, प्रावृट्-काल अर्थात् वर्षर्तु में दादुर धैवत्त में और मद मस्त कुञ्जर निषाद मे बोलता है[1]।

'नारदी शिक्षा' में भी यह विषय प्राप्त होता है। वृहद्देशी व नारदी शिक्षा में कुछ मतभेद है। जैनग्रन्थ ठणांगासुत्त में ऋषभ का कुक्कुट से, गान्धार का हंस से, मध्यम का गौ से तथा निषाद का सारस पक्षी से सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

शैलाश्रित गुहाचित्रों में पशु-पक्षियों का अत्यन्त वैज्ञानिक पद्धति से पंक्तिबद्ध रूप में चित्रित होना सङ्गीत की इसी कल्पना का लयात्मक उत्कर्ष है।

१- षडजं वदति मयूरो ऋषभं चातको वदेत्।
अजा वदति गान्धारं क्रोञ्चो वदति मध्यम्।।
पुष्प साधारणे काले कोकिलः पञ्चमं वदेत्।
प्रावृट्काले सम्प्राप्ते धैवतं ददुरो बदेत्।।
सर्व (ता?दा) च तथा देवि! निषादं वददे गजः।।

-वृहद्देशी

जीवन और सङ्गीत का परस्पर गहरा तादात्म्य है। शङ्कर जीवन के नियन्त्रक और संहारक हैं। शिवद्वार शङ्कर की प्रिय नगरी है। मूर्तियों से सजी हुई प्राचीनता की पराकाष्ठा का जत्वलन्त स्वरूप विद्यमान है शिवद्वार के विस्तृत अञ्चल में। सङ्गीत की सनातन पराम्परा प्रवहमान है अद्यतन ग्राम्याञ्चलीय लोकगीतों में। नाद ही ब्रह्म है। ब्रह्म से ही अक्षर की कल्पना साकार होती है और अक्षर ही स्वर में परिणित होकर सङ्गीत का स्वरूप धारण करता है। शिव और शक्ति का परस्पर अभिन्न स्वरूप ही अर्द्धनारीश्वर है। यही स्वरूप सङ्गीतोत्पत्ति का कारण है और यही कारण ही शिवद्वार और सङ्गीत का लयात्मक अन्तः सम्वन्ध है।

शिवद्वार की सिद्ध-सन्त-परम्परा

विशाल विस्तृत विन्ध्य की वसुन्धरा अनन्त काल से ऋषि-मुनियों की तपस्थली रही है। सघन वन प्रान्त तथा शोण की उद्दाम लहरों के मध्य दूर-दूर तक फैली पर्वत श्रृङ्खलाओं की कमनीय कन्दराओं में तपस्चर्यार्थ ऋषि-मुनि आते थे एवं पदार्थचतुष्टय की सम्यक्सम्पूर्ति करते थे। महर्षि अगस्त के गुरुतर आदेश को शिरोधार्य कर शोण-विचियों में अपने-प्रतिविम्ब को निहारता हुआ विन्ध्य सदैव आतिथ्य के लिए समुत्सुक रहा। जाने कितने ऋषि-मुनि इस धराधाम में आये और अपनी तपस्या से त्रिलोक को अभिमण्डित किए तथापि विन्ध्य की कन्दराओं के सम्मुख वे कृतज्ञ ही रहे।

गोस्वामी तुलसीदास ने परिहास पेशलता पूर्वक कवितावली रामायण में लिखा है कि विन्ध्य में निवास करने वाले तपस्वी नारी के बिना दुखी थे परन्तु तुलसी के द्वारा गौतम भार्या अहिल्या के उद्धार की कथा का अनुश्रवण कर वे परम सुखी होकर विचार करने लगे कि अब तो सभी शिलायें प्रभु श्रीराम के पद कञ्ज का संस्पर्श कर चन्द्रमुखी स्वरूप में खिलखिला उठेंगी। भगवान् राम ने बहुत ही अच्छा किया जो करुणा द्रवित होकर के जङ्गल में पदार्पण किये[१]। यद्यपि इस छन्द से गोस्वामीजी ने अपने काव्य चातुर्य को सम्वर्द्धित किया है तथा हास्य रस का परिपाक काव्य चारुता की चरमोपलब्धि है तथापि विन्ध्य की समृद्ध सन्त परम्परा का परिज्ञान तो होता ही है।

महामुनि मार्कण्डेय की तपस्थली मारकुण्डी (मारकण्डेयो) आज भी मार्कण्डेय-पुराण के ९ हजार श्लोकों की साक्षी है। मार्कण्डेय और मारकुण्डी के सम्बन्ध मे सोनभद्र के वयोवृद्ध साहित्यकार पण्डित रामजी पाण्डेय 'विमल' ने लिखा है- 'अघोरेश्वर भगवान् शिव का वरदान प्राप्त कर अपनी अल्पायुता के सम्वर्द्धन की कामना से तपस्यार्थ आये मारकण्डेय ऋषि जिस पर्वत क्षेत्र पर तपस्या द्वारा शिव का आशीर्वाद प्राप्त किए वह पर्वत क्षेत्र कालान्तर में मारकुण्डी के नाम से विख्यात हुआ। इसी स्थान पर मार्कण्डेय ऋषि ने मार्कण्डेय पुराण का प्रणयन किया और प्रत्यावर्तन के समय वाराणसी के निकट मार्कण्डेय महादेव की प्रतिस्थापना भी की थी[२]।'

१- विन्ध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महाविनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी 'तुलसी' सों कथा सुनि भैं मुनि वृन्द सुखारे।
ह्वैहें शिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मञ्जुल कञ्ज तिहारे।
कीन्हि भली रघुनायक जू करुनाकरि कानन को पगु धारे।। - कवितावली।।२।२८।।

२- रमाशङ्कर पाण्डेय 'विकल' : 'सोनाञ्चल' चतुर्थ पुष्प, पृष्ठ- १५८

सम्वत् ४६७ विक्रमी में अघोरभद्र अघोरी ने अगोरी दुर्ग का निर्माण शोण, रेणु, विजुल के सङ्गम पर करवाया। अगोरी-क्षेत्र ८४ गाँव का था, जो राज्य न होकर मठ था, जिसे कालान्तर में पुराअघोरक्षेत्र की संज्ञा से अभिहित किया गया। मठ के उत्तराधिकारी सन्तति परम्परा के आधार पर न होकर शिष्य परम्परा के आधार पर होते थे। अघोरी तन्त्र साधना में परम प्रवीण होते थे। अघोरभद्र ने गोठानी ग्राम में शिवशक्ति केन्द्र स्थापित कर शिवपीठ बनाया। उन्होंने ही कुण्डारिका शक्तिपीठ की स्थापना की, जिसे कुण्डवासिनी कहेत हैं। अगोरी (गोष्ठानी=गोठानी) मे कुचिला और विल्व दोनों विद्यमान हैं। शैव और शाक्त का सम्पृक्त स्वरूप गोठानी में द्रष्टव्य है, जो कालिदासीय परिकल्पना को चरितार्थ करता है[१]।

अघोरभद्र की अप्रतिम तन्त्र साधना के सम्बन्ध में प्रचलित है कि कोई शिष्य और शिष्या परस्पर प्रेम करते थे, जो नाव के द्वारा आश्रम से निकलकर बिहार की तरफ पलायन कर गये। अघोरभद्र ने अपने अध्यात्मत्तीन्द्रिय क्षमता से उन दोनों को बीस मील दूरी से प्रत्यावर्तित कर तन्त्र-साधना से उनका आपस में विवाह करा दिया तथा अगोरी से निष्कासित कर दिया। अगोरी में दश अघोरियों की चर्चा की जाती है। सम्वत् ७३५ विक्रमी में अगोरी से अघोरियों का प्रभुत्व समाप्त हो गया।

प्रसिद्ध सन्त अघोर परम्परा के अनुयायी कीनाराम बाबा की तपस्थली विन्ध्य की उपत्यका में अमिलाधाम नामित संज्ञा से अभिहित है। सम्प्रति कण्डाकोट में महर्षि कीनाराम की मधुर स्मृतियों को सजो कर रखने का उपक्रम 'सन्त कीनाराम महाविद्यलय' के द्वारा किया गया है।

मुक्खा दरी में भक्तिमती गड़ेरिनबाई साधना किया करती थीं। देवगढ़-क्षत्रप बाबू, रणञ्जयप्रतापबहादुरसिंह की वंश-वल्लरी इन्हीं की कृपा से आगे विस्तृत हुई तथा बाबू गजराजसिंह के वंश की बाती पुनर्प्रकाशित हुई। कालान्तर में स्वामी शिवानन्द जी महाराज शिवद्वार में रहा करते थे। आपके बारे में प्रसिद्ध है कि नारिकेलि की खोपड़ी में भरकर चन्दन घिसते थे और उसी का विलेपन भगवान् शिव और माँ पार्वती की देहयष्टि में करने के उपरान्त स्नान तथा शास्त्रोक्त पूजा करते थे। स्वामी जी द्वारा निर्मित कराया गया विशाल कूप आज भी शिवद्वार मन्दिर के ईशान कोण में अवस्थित है, जो उनकी मधुर स्मृति को जीवन्तता प्रदान करता है। शिवद्वार में काफी समय तक स्वामी हरिदास जी महाराज ने तपस्या की थी। उस समय आप सद्यः गृहत्यागकर यहाँ आये थे। आपकी तत्कालीन प्रसिद्ध 'मौनीबाबा' के रूप में हुई। इस अञ्चल में आपकी वृहद् शिष्य-परम्परा है। श्री-श्रीवंशीस्वामी

१- रघुवंशमहाकाव्यम ।।१-१।।

जी महाराज का सम्बन्ध शिवद्वार से रहा है। श्रीवंशीस्वामी का उत्तरवर्ती जीवन शिवद्वार में व्यतीत हुआ। यहीं आपने यज्ञ किया तथा सुन्दरीगढ मे महाविद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव भी रखा, परन्तु कतिपय स्थानीय गणमान्य जनों ने स्वार्थ के वशीभूत होकर स्वामी जी के स्वप्न को विखण्डित कर दिया। परिणामतः स्वामी जी की परिकल्पना चरितार्थ न हो सकी।

स्वामी हरिदास जी महाराज चौहान क्षत्रिय हैं। बाल्यावस्था में ही संसार की नश्वरता आपको परमपितापरमेश्वर की ओर प्रवृत्त करने में सहायक सिद्ध हुई। आपका अध्ययन अत्यन्त विशाल है। स्मरण शक्ति तो अपने आपमें अद्वितीय है। आप मानस की अत्यन्त भावमयी व्याख्या करते हैं, जिसे सुनकर हृदय आत्मविभोर हो उठता है। महाराज जी की मेरे ऊपर असीम कृपा रहती है। आपने हमें षोडश खण्डों की 'मानस प्रवचन' नामक पुस्तक साशीष प्रदान की, जो आज भी हमारे पुस्तकालय में सुरक्षित है। स्वामी जी के सन्दर्भ में कुछ भी लिखना सूर्य्य को दीपक दिखाने के समान ही है। सम्प्रति आप राजस्थानस्थ जोधपुर जनपद में कुटी बनाकर भगवत् भजन में तल्लीन रहा करते हैं, तथापि कभी-कभी आपका दुर्लभ दर्शन सुलभ हो ही जाया करता है[1]।

विन्ध्य क्षेत्र की प्रत्येक शिलाएँ ऋषि मुनियों की तपस्चर्या की साक्षी है। गोस्वामी तुलसीदास की सुप्रसिद्ध अर्द्धाली 'अरथ अमित आखर अति थोरे' का अवलम्बन लेते हुये विन्ध्य क्षेत्र की इन महान् विभूतियों के परापरापदारविन्दद्वय में सश्रद्ध प्रणति निवेदन के साथ योगिराज श्रीकृष्ण की गीता में व्यञ्जित अभिव्यक्ति[2] में भावनात्मक स्वर सामंजस्य सहित स्वय को गौरवान्वित महसूस करता हूँ।

१- ईश्वरत्वं सुविज्ञाय शिवद्वारे पुरेशुभे।
श्री स्वामीहरिदासोऽसौमौनीभूतोऽतिरिच्यते।।
चौहानवंशसञ्जातः ज्ञानविज्ञानतत्परः।
शुभोपदेशदातृत्वे परिगृहतसदाव्रतः।।
राजस्थाने प्रदेशेऽपि जोधपुरेत्तिमण्डले।
विद्यतेवास वास्तव्या कुटीरम्याशुभावहा।।
दर्शनं दुर्लभं यस्य सुलभं स्याद्यदाकदा।
जाने पुण्यातिलाभेन सञ्जये कृपयातया।।

- डॉ० हीरालाल पाण्डेय प्रणीत

२ यद्-यद् विभूतिमत सत्व वा
यत्त देवावगच्छ त्व मम गीता १० ४१

शिवद्वार की साहित्यिक-परम्परा

शिवद्वार अगोरी-बड़हर-राज्य के भव्य भाल पर स्मन्तक मणि की भाँति प्राचीनकाल से ही सम्पूज्य है और अगोरी-बड़हर-राज्य विन्ध्य की पुनीत मेदिनी की कटि-मेखला सदृश भारतीय वसुन्धरा का श्रृङ्गार अनादि काल से करता रहा है। शोणभद्र की उद्दाम लहरों की कल-कल ध्वनि एवम् अभिराम प्रकृति की मनोविनोदिनी दृश्य मल्लिका के मध्य नाद की अनहद परम्परा चलती रही। नाद से ब्रह्म का तादात्म्य होता रहा। काव्यानन्द रसास्वादः ब्रह्मानन्द सहोदरः की पूण्यानुभूति होती रही। विन्ध्य भूमि का संस्कृत-साहित्य मे आत्मा के समान महत्त्व है। संस्कृत-साहित्य के शिखर-पुरुष गद्य की उर्वर पृष्ठभूमि पर स्थित महाकवि बाणभट्ट इसी विन्ध्य की प्रसविनी धरा की सन्तान थे। महाकवि बाणभट्ट का जन्म प्रीतिकूट में हुआ था। प्रीतिकूट के सम्वन्ध में यद्यपि विद्वानों में अत्यधिक वैमत्य है तथापि अनुशीलन की सुदृढ़ परम्परा आज यह सिद्ध करती है कि प्रीतिकूट नामक स्थान सीधी (म०प्र०) में विद्यमान था, जिसे आज भ्रमरसेन के अभिधान से जाना जाता है। विन्ध्याञ्चल की संस्कृत-साहित्य-परम्परा बाण से प्रारम्भ होकर युवराज वीरभद्र तक प्रवहमान होती है किन्तु बाण का शिवद्वार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। शिवद्वार की साहित्यिक-परम्परा संस्कृत के कवि योगेश्वर से प्रारम्भ होकर ब्रजी के कवि बाबू रणञ्जयप्रतापबहादुर सिंह तक अविराम प्रवाहित होती हुई जीवन्त स्वरूप धारण करती है, जिसका संक्षिप्त अध्ययन निम्नवत है–

योगेश्वर

महाकवि बाणभट्ट के पश्चात् दसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध कवि योगेश्वर का जन्म विन्ध्याञ्चल की पवित्रभूमि सुन्दरीगढ़ (शिवद्वार), पूर्वकालीन चौरासी ग्राम्याञ्चलीय परिधि में हुआ। योगेश्वर का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है तथापि उनके सुललित श्लोक सुभाषित ग्रन्थों में समुपलब्ध होते हैं। सुभाषित रत्न ग्रन्थों में योगेश्वर के स्फुट श्लोक दिव्याभूषण में जटित नवरत्नों के समान उल्लेखनीय हैं।

पार्वती को नृत्य सिखाने में तल्लीन भगवान् शङ्कर का वर्णन करते हुए योगेश्वर ने शार्दूलविक्रीडित छन्द में लिखा है –

एवं स्थापय सुभ्रु बाहुलतिकामेवं कुरुस्थानकं
नात्युच्चैर्नम कुञ्चिताग्रचरणं मां पश्य तावत्क्षणम्।
गौरीं नर्तयतः स्ववक्त्रमुरजेनाम्भोधरध्वानिना
शम्भोर्वः सुखयन्तु लम्भितलयच्छेदाहतास्तालिकाः।।[१]

अर्थात् हे सुन्दर भौंहवाली पार्वती ! इस प्रकार हस्त-लता को स्थापित करो। ऐसी स्थिति करो, संकुचित अग्रचरण को अत्यधिक मत झुकाओ, क्षण मात्र हमारी ओर देखो। मेघ के समान गम्भीर ध्वनि वाले अपने मुख-मुरज से भगवती गौरी को नृत्त कराते हुए भगवान् शङ्कर की प्राप्तलयच्छेद के समय बजायी गयी तालियाँ तुमको सुखी करें।

शिवद्वार भगवान् शिव की मोक्षदायिनी नगरी की तरह प्रतिष्ठित रही है। फिर वहाँ निवास करने वाला कवि शिव कृपा से वञ्चित कैसे रह सकता है? कुमार स्कन्द के शैशव की बाल्यबुद्धि से उत्पन्न स्थिति से समाधिभग्न होने पर शिव के हास्य का वर्णन करते हुए योगेश्वर ने लिखा है –

''मातर्ब्रूहि किमेतदञ्जलिपुटे तातेन गोपायितं
वत्सस्वादु फलं प्रयच्छति न मे गत्वागृहाण स्वयम्।
मात्रैवं प्रहिते गुहे विघटयत्वाकृष्य सन्ध्याञ्जलिं
शम्भोर्भग्न समाधि रुद्धमनसो हास्योद्गमः पातु वः।।[२]

अर्थात् हे माताजी ! पिताजी ने इस अञ्जुलि में क्या छिपा रखा है बताओ? पुत्र ! मीठा फल। मुझको नहीं दे रहे हैं? जाकर स्वयं ले लो। माता द्वारा इस प्रकार भेजे जाने पर सन्ध्याञ्जलि को खींचकर कार्तिकेय के द्वारा अलग करने पर भग्न समाधि से नियन्त्रित मानस वाले भगवान् शङ्कर का हस्योद्गम तुम्हारी रक्षा करे। इसी क्रम में शिव के शिखर भाग का वर्णन उपलब्ध होता है – सन्ध्याकाल में ताण्डव करते हुये भगवान् शिव का दहकते हुये भालाक्षिपुट से उद्भूत अग्निशिखा से स्पृष्ट चन्द्रमा की लेखा वाला,

---

१ १ ६ २६
२ वही १ ८ ३८

स्खलित चर्म वाला, कम्पित महासर्प से छूटा हुआ आकाश गङ्गा के जल में स्खलित होने वाला अर्द्धचन्द्र से निःसृत निर्मल भस्म से चपल घूर्णित जटा समूह वाला शिर तीनों लोक की रक्षा करें –

सन्ध्याताण्डवितस्य खण्डपरशोरत्याजगन्तिज्वल-
ल्लालाटाक्षिपुटोद्भवानलशिखालीढेन्दुलेखं शिरः।
भ्रश्यत्कृत्ति चलन्महाहिविगलद्व्योमापगाम्बुस्खल-
त्खण्डेन्दूच्छलदच्छ भूति चटुल भ्राम्यज्जटा सन्तति।।[१]

भगवान् विरुपाक्ष के शिर पर कल-कल निनाद करती हुई भगवती भवानी गङ्गा के ललित लास्य का वर्णन करते हुये योगेश्वर ने शिखरिणी छन्द मे अपनी भावनाओं को व्यक्त किया हैं – गुम्फवाले कपाल देश में गम्भीर, जटाग्रन्थियों में मन्द, जटाबन्ध में भुजगमणि का सम्बन्ध होने पर समुत्तान, वेग के आयत चञ्चल चन्द्रमा की रेखा के कोने में कोमल भगवान् शङ्कर के शिर पर भगवती गङ्गा का मधुर अव्यक्त शब्द तुमको सुदीर्घ काल तक पवित्र करे। यथा –

कपाले गम्भीरः कुहरिणि जटासन्धिषु कृशः
समुत्तानश्चूडाभुजगमणिबन्धव्यतिकरे।
मृदुर्लेखाकोणे रयवशविलोलस्य शशिनः
पुनीताद्दीर्घं वो हरशिरसि गङ्गा कलकलः।।[२]

ताण्डव सज्जा के समय परस्पर वार्तालाप का चित्रण भी उल्लेखनीय है–

नन्दिन् खञ्जनमञ्जुनादमुरजं संगृह्य सज्जीभव
कुष्माण्डानय भस्मभाजनमितो लम्बोदरागम्यताम्।
स्कन्दं नन्दय मन्दिरोदरगतं देवीति रङ्गाङ्गणे
शम्भोस्ताण्डवमण्डनैकमनसः संजल्पितं पातु वः।।[३]

अर्थात् हे नन्दी ! खञ्जन के समान मधुर नाद करने वाले मुरज को लेकर तैयार हो जाओ। हे कूष्माण्ड ! भस्मपात्र को यहाँ ले आओ। हे

---

१ वही ।।१।।६।।४२।।
२ वही ।।१।।१०।।४६।।
३ वही ।।१।।१६।।६२।।

लम्बोदर ! आओ। हे देवि ! मन्दिर मध्यवर्ती स्कन्द को प्रसन्न करो। इस प्रकार नृत्ताङ्गण में भगवान् शङ्कर की ताण्डव सज्जा में एकतान मन वालों का परस्पर संलाप तुम्हारी रक्षा करे।

योगेश्वर की कल्पना और तर्कशक्ति अत्यन्त प्रबल थी। कल्पना और तर्क के सम्यक् संयोग से उत्पन्न काव्यचारुता योगेश्वर की सर्वगुणोपेत काव्य प्रतिभा का परिचायक है। शिवगण भृङ्गी की चिन्ता का वर्णन करते हुए शिव के परस्पर विरुद्ध रूप का चित्ताकर्षक चित्रण योगेश्वर के शार्दूलविक्रीडित वृत्त का सुन्दर उदाहरण है –

दिग्वासायदि तत्किमस्य धनुषा शास्त्रश्च किं भस्मना
भस्माथास्य किमङ्गना यदि च सा कामं प्रतिद्वेष्टि किम्।
इत्यन्योन्यविरुद्धचेष्टितमिदं पश्यन्निजस्वामिनो-
भृङ्गी सान्द्रसिरावनद्धवपुषं धत्तेऽस्थिशेषं वपुः।।[१]

अर्थात् यदि यह दिगम्बर हैं तो इन्हें धनुष से क्या मतलब? यदि अस्त्र धारी हैं तो भस्म से क्या मतलब? यदि भस्मधारी हैं तो अङ्गना किस लिये? और यदि अङ्गना है तो अनङ्ग से क्यों द्वेष करते हैं? इस प्रकार अपने स्वामी (शिव) के परस्पर विरुद्ध इस क्रिया कलाप को देखते हुए सघन शिराओं मे बँधे हुए शरीर वाले भृङ्गी अस्थिशेष शरीर को धारण करते हैं।

अन्ततः कहा जा सकता है कि उपलब्ध समस्त श्लोक शिव अथवा गण, अनुचर सम्बन्ध को रेखाङ्कित करते हैं। एतदर्थ निश्चय ही योगेश्वर शिव भक्त अथवा शैव सम्प्रदाय के सदस्य रहे होंगे। तत्कालीन अगोरी तथा गोठानी शिवगणों अघोरियों की प्रमुख साधनास्थली थी। यद्यपि कोई प्रामाणिक स्वतन्त्र ग्रन्थ कविवर योगेश्वर प्रणीत प्राप्त नहीं होता तथापि सदुक्तिकर्णामृतम्, सुभाषितरत्नकोष, सुभाषितावली, सुभाषितरत्नभाण्डागारम् प्रभृति संग्रह ग्रन्थो में योगेश्वर के स्फुट श्लोक बहुतायत संख्या में विद्यमान हैं। समस्त श्लोको को एकत्र कर योगेश्वर के श्लोकों का संग्रह किया जा सकता है। निश्चय ही योगेश्वर शिवद्वार की धरित्री के अमूल्य रत्न थे।

१ वही १ ८१ १५१

छित्तप

योगेश्वर के समकालीन कवियों में छित्तप का प्रमुख स्थान है। छित्तप के साथ भी यही विडम्बना है कि इनका भी कोई स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यद्यपि संग्रह ग्रन्थों में छित्तप की अनेक सुललित रचनाएँ सकलित हैं, तथापि स्फुट श्लोकों से कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का मूल्याङ्कन सम्भव नहीं है। छित्तप शिव के भक्त थे। दसवीं शताब्दी में अगोरी से लेकर शिवद्वार तक का समस्त क्षेत्र द्वितीय काशी अथवा दक्षिण काशी की मज्ञा से अभिमण्डित था। यही कारण है कि इस क्षेत्र के तत्कालीन संस्कृतज्ञों का मन भगवान् शिव के विशाल वहुमुखी चरित्र पर आकृष्ट हुआ। छित्तप ने शिवद्वार स्थित भगवान् शङ्कर का वर्णन करते हुये लिखा है – अविस्रंसित कटिबन्ध अनभिप्राप्तदृढ़ोपगूहन असम्प्राप्तमुखस्पर्श अनावलोकित वक्रचारुत्व अर्द्धनारीश्वर हुये भगवान् शङ्कर का प्रतापित-सा सम्भोग सख्य समान शरीर रक्षा करे। यथा –

> अच्छिन्नमेखलमलब्धदृढ़ोपगूढ़-
> मप्राप्तचुम्बनमवीक्षितवक्त्रकान्ति।
> कान्ताविमिश्रवपुषः कृतविप्रलम्भ-
> सम्भोगसख्यमिवपातु वपुः स्मरारे।।[1]

चित्तप

कतिपय विद्वान् छित्तप और चित्तप को एक ही व्यक्ति स्वीकार करते हैं, परन्तु यह न्यायसङ्गत नहीं है, क्योंकि सुभाषित ग्रन्थों में दोनों की अलग-अलग अस्मिता का बोध होता है। बहुत अधिक सम्भव है कि चित्तप और छित्तप परस्पर भाई या सम्बन्धी रहे हों। चित्तप भी भगवान् शङ्कर के अनन्य भक्त थे। कल्पान्त की शान्ति पर कल्याण की कामना करते हुए चित्तप ने लिखा है – कण्ठ की छाया के व्याज से कल्प-रजनी के भूषण को, मन्दाकिनी के व्याज से प्रलयकालीन समुद्र को, उर्ध्व नेत्र के व्याज से कल्पानल को, भूषणभूतपन्नग की क्रीड़ा के समय पान के व्याज से उच्छ्वास पवनों को भी उपसंहृत करते हुए कल्पान्त की शान्ति पर भगवान् शङ्कर तुम्हारी रक्षा करें।

---

१ वही ।।१।।२८।।१३७।।

यथा –

> **कण्ठच्छायमिषेण कल्परजनीमुत्तंसमन्दाकिनी-**
> **रूपेण प्रलयाब्धिमूर्ध्वनयनव्याजेन कल्पानलम्।**
> **भूषापन्नगकेलिपालनकपटादेकोनपञ्चाशतं**
> **वातान्प्युपसंहरन्नवतु वः कल्पान्तशान्तौ शिवः।।**[1]

दाक्षिणात्य

दाक्षिणात्य का जन्म दसवीं शताब्दी के आस-पास अगोरी से लेकर शिवद्वार के मध्य हुआ था। यद्यपि इनका नाम कुछ और था, परन्तु अगोरी से शिवद्वार तक विस्तृत दक्षिणाञ्चल नाम से प्रथित स्थान का निवासी होने के कारण इन्हे दाक्षिणात्य कहा जाने लगा। स्थान, जाति, शारीरिक संरचना, स्वर प्रभृति लक्षणों पर आधृत प्राचीन संस्कृत कवियों के नाम प्राप्त होते हैं। यथा – भेरीभाङ्कार एवं विकटनितम्बा। स्वाभाविक है कोई व्यक्ति अपना नाम भेरीभाङ्कार तथा कोई महिला अपना नाम विकटनितम्बा रखना पसन्द नहीं करेगी, किन्तु कवियो ने स्वर तथा शारीरिक संरचना के आधार पर परिहास में ही दोनों कवि, कवयित्रियो का नाम रखा होगा, जो कालान्तर में इतना प्रचारित हुआ कि उनका वास्तविक नाम अतीत की लहरों में विलीन हो गया।

दाक्षिणात्य रसराज समन्वित रचना करने में अत्यन्त पटु थे। माङ्गलिक स्वस्तिपरक श्लोकों में भी उनका श्रृङ्गारी स्वरूप मुखरित हो उठा है। विष्णु की चार से भी अधिक भुजाओं के द्वारा पवित्रता की कामना करते हुए दाक्षिणात्य ने लिखा है –

> **कचचिबुककुचाग्रे पाणिषु व्यापृतेषु**
> **प्रथमजलधिपुत्रीसङ्गमे रङ्गधाम्नि।**
> **ग्रथितनिविडनीवीग्रन्थिनिर्मोचनेच्छो**
> **श्चतुरधिक भुजाशा शार्ङ्गिणो वः पुनातु।।**[2]

अर्थात् रङ्गधाम में लक्ष्मी के साथ प्रथम समागम के समय कच, चिबुक, कुचाग्र में पाणि समूह के व्यापित होने पर कसकर बँधे हुए कटि

---

१ वही १ ५ २२
२ वही १ ६८ ४०

बन्धन का निर्मुक्त करने की अभीप्सा वाले विष्णु का चार से अधिक भुजाभिलास तुमको पवित्र करे।

युवराज वीरभद्रदेव

युवराज वीरभद्रदेव बान्धवगढ़ाधिपति महाराजा रामचन्द्र जू देव के पुत्र थे। इनका जन्म सम्वत् १६१० अर्थात् १५५४ ई० में हुआ था। वीरभानूदय-काव्यम् में इनकी माता का नाम यशोदा वर्णित है, तथा वे गौर देश के शासक कीर्तिसिंह की पौत्री तथा माधवसिंह की पुत्री एवम् रत्नसिंह की भगिनी हैं, यद्यपि यह काव्य की काल्पनिक परम्परा पर आधृत है तथापि रीवा-राज्य मे प्राप्त बघेल राजवंश के सम्पूर्ण इतिहास में यही सन्दर्भ प्रामाणिक और तथ्य सम्मत माना गया है, परन्तु वर्दी नरेश त्र्यम्बकेशप्रतापवहादुरसिंह जू देव ने अगोरी नरेश दादूरायशाह की पुत्र कुमारी कृत्तिका को बान्धवेश रामचन्द्र की पाणिगृहीता भार्या और युवराज वीरभद्रदेव की जननी माना है। अगोरी-गोठानी प्रभृति गाँवों के निवासियों की मान्यता तथा लोक परम्परानुसार युवराज वीरभद्रदेव ने छद्मपूर्वक अपने मातुल दीपनारायणशाह का सपत्नीक वध कर अगोरी दुर्ग पर अधिकार स्थापित कर लिया।[1] अगोरी पर वीरभद्रदेव का मात्र ६ वर्ष तक शासन रहा। मै यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि वीरभद्रदेवचम्पू के अनुसार युवराज वीरभद्र ने अपनी माता की आज्ञानुसार अन्यान्य विजय-यात्रायें की, परन्तु उनका राज्याभिषेक नहीं हुआ था। रीवा-राज्य-दर्पण में वर्णित है कि युवराज वीरभद्रदेव मुगलेश्वर सम्राट् अकबर की समर्चा में दिल्ली-दरबार में रहा करते थे। १५६२ ई० में महाराजा रामचन्द्र के दिवंगत होने की सूचना वीरभद्रदेव को दिल्ली में ही प्राप्त हुई। पितृ-शोक-सन्तप्त युवराज वीरभद्रदेव बान्धवगढ़ की ओर चल पड़े, परन्तु दुर्भाग्यवश मार्ग में उनकी पालकी टूट जाने के कारण उन्हें गम्भीर चोट लगी तथा उसी समय उनका देहावसान हो गया।[2] उस समय उनके पुत्र विक्रमादित्य अल्पव्यस्क थे। १३ वर्ष तक राज्य पर मुगल-दरबार का अधिकार रहा। अकबर का विश्वासपात्र सेनानायक पत्रदास १५९८ ई० में बान्धवगढ़ का सूबेदार बनाया गया।[3] जमाबन्दियों के अनुसार जहाँगीर ने

---

१. चन्देलवंशानुक्रम्, पृ० २ (अप्रकाशित)
२. रीवा-राज्य-दर्पण, पृ० ६०
३. ब्लाकमैन : आइने अकबरी, जिल्द-१, पृष्ठ-३५८

सम्वत १६६१ अर्थात १६०५ ई० को अपना फरमान जारी करके विक्रमादित्य को १८ परगनों की जागीर सौंपी थी। विक्रमादित्य ने रीवा के किले से शासन करना प्रारम्भ किया, जिसे सलेमशाह ने बनवाया था।[1] अस्तु युवराज वीरभद्रदेव को रीवा का शासक मानना अवैध है। शास्त्रीय नीति के अनुसार विजेता तद्राज्य का शासक माना जाता है। उदाहरणार्थ मधुपुरी (मथुरा) के शासक लवणासुर का वध शत्रुघ्न द्वारा किये जाने पर रामचन्द्र वहाँ के शासक नहीं हुये अपितु वहाँ की प्रजा ने शत्रुघ्न को ही अपना अधिपति स्वीकार किया। इस दृष्टि से अगोरी राज्य के नौ वर्ष तक वीरभद्रदेव अधिपति रहे, और इसी कारण शिवद्वार की साहित्यिक परम्परा वीरभद्रदेव के कवि स्वरूप को स्वयं में समाहित कर लेती है।

वीरभद्रदेव संस्कृत भाषा के उच्चकोटि के विद्वान् थे। इनकी विद्वत्ता का प्रमाण इनका प्रौढ़ ग्रन्थ 'कन्दर्पचूड़ामणि' है। वीरभद्रदेव के सृजेता-पक्ष को आरेखित करते हुए गुरु रामप्यारे अग्निहोत्री ने लिखा है – 'वीरभद्र महान् पराक्रमी और प्रतापी नरेश थे। राजनीति में परम पटु थे। इन्होंने अकबरी दरबार में रहकर शाही मित्रता का अच्छा निर्वाह किया। यह स्वयं विद्वान् और विद्वानों के आश्रयदाता थे। इन्होंने संस्कृत में 'कन्दर्पचूड़ामणि' नामक एक अच्छा ग्रन्थ कामशास्त्र पर लिखा है जिसके अध्ययन से उनकी विद्वत्ता और प्रकाण्ड अध्ययन एवं मनन का पता मिलता है। वीरभद्र का लिखा हुआ कन्दर्पचूड़ामणि ग्रन्थ उनकी प्रौढ़ावस्था का है। इस ग्रन्थ की समाप्ति का समय इसमें १६३३ लिखा है।'[2]

वीरभद्रदेव के स्वयं कवि होने के कारण ही उनके पास सुन्दर ललित भाषा में पत्र लेकर एक कवि को भेजा गया था।[3] युवराज वीरभद्रदेव के

---

१. तकसीम परगने माफिक फरमान जहाँगीर साह का राजा विक्रमाजीत की जागीर का .. तबक सं० १६६१ के साल । फरमान सरकार महाल परगने १८ .. . रीमा का किला सलेमशाह पातसाह बनवाया। ...., बैसाख बदी ५ बुधे कहं किले मं नेइ भै। विकरमाजीत ते किले आएँ।

– (क) एकत्रा बान्धोगढ़ (जमाबन्दी१)

२. गुरु रामप्यारे अग्निहोत्री : रीवा-राज्य का इतिहास, पृ० ५५

३ डॉ० सुद्युम्न आचार्य वीरभद्रदेवचम्पू, पृ० ६४

अश्रित कवि पद्मनाभ मिश्र ने वीरभद्रदेवचम्पू की रचना का था। आश्रित और आश्रयदाता की मान्यता में अत्यधिक साम्य है। वीरभद्रदेव अपने कन्दर्प चूडामणि के मङ्गलाचरण में भैरवदृष्टि के द्वारा कल्याण की सम्प्राप्ति हेतु प्रार्थना करते हैं –

अरुणाऽपिदक्षकोपात् यनुरक्तेषु सानुरागेव।
कल्याणाय जगत्या दृष्टिः श्री भैरवस्यास्तु।।[१]

पद्मनाभमिश्र भी वीरभद्रदेवचम्पू का प्रारम्भ भैरव तथा भैरवी की वन्दना से करते हैं। यथा –

नियतरुधिरपानरक्तदन्ताग्ररोचिर्दूदलितदनुजराज प्रौढहृर्ष्यान्धिकारः।
सृजतु दशदिगन्तस्थापिनिष्कीर्तिमल्लीस्त्रिपुरहरपुरन्ध्री भैरवो वः।।[२]

पद्मनाभ मिश्र ने रामचन्द्र के प्रति लिखा है कि – 'हे रामचन्द्र ! यदि तुम युद्ध करना चाहते हो तो विना बहाने के युद्ध करने वाले राजाओं की तलवार को ही हाथ में ग्रहण करो। क्योंकि तुम्हारे वाण को हाथ में लेने पर तो तुमको शत्रु लोग कामदेव ही समझने लगेंगे।'[३] इसी प्रकार ग्रन्थान्त में भी इन्हें सुन्दरता में कामदेव को परास्त करने वाले उदारता में कर्ण को पराजित करने वाले इत्यादि कहा गया है। इसी प्रकार के भाव युवराज श्री वीरभद्रदेव ने कन्दर्पचूड़ामणि में प्रकट किया है –

कामादप्यभिमारो भीमादपि बहुशालिनां मान्यः।
कर्णादपि च वदान्यो जयति सुतो रामचन्द्रोऽस्य।।[४]

पद्मनाभमिश्र ने वीरभद्रदेवचम्पू में वीरभद्रदेव में धनुष सञ्चालन की दृष्टि से अर्जुन की परिकल्पना की है। वीरभद्रदेव ने भी धनु-सञ्चालन में अर्जुन की तुलना कन्दर्पचूड़ामणि में की है –

राजोचितगुणसीमा भीमावरजादिहाधिकोधनुषि।
तनयो विनयसमुद्रो जयतितरां वीरभद्रोऽस्य।।[५]

---

१ कन्दर्पचूड़ामणि ।।१।।१।।१।।
२ वीरभद्रदेवचम्पू ।।१।।१।।
३ डॉ० सुद्युम्न आचार्य : वीरभद्रदेवचम्पू, पृ० ३५-३६।
४ कन्दर्पचूड़ामणि ।।१।।१।।११।।
५ वही ।।१।।१।।१३।।

बाबू रणञ्जयप्रतापबहादुर सिंह

प्रकृति की नैसर्गिक छटा की असीम अनुकम्पा प्राप्त देवगढ़ क्षत्रपी के पुराण-पुरुष बाबू गजराजसिंह जू देव की आठवीं पीढ़ी में बाबू रणञ्जय प्रतापबहादुर सिंह जी का जन्म सन् १८२० ई० में हुआ। आपके पूज्य पिताश्री बाबू उदयबहादुर सिंह अपने पूज्य पितृदेव बाबू वेणीमाधवप्रसादसिंह के द्वितीय पुत्र-रत्न तथा बाबू सरकारचन्दनसिंह के अनुज थे।

बाबू रणञ्जयप्रतापबहादुर सिंह बाल्यकाल से ही स्वात्माभिमानी, अध्यवसायी, काव्यानुरागी, भगवत् भक्त थे। व्यायाम, मृगया, अश्वसञ्चालन आपके प्रिय व्यसन थे। स्वयं के पाणिग्रहण के समय हुई बारात दुर्घटना और ब्रह्म-विपदा के कारण आपका मन सर्वथा अशान्त तथा सांसारिक विषयों से विरक्त हो गया था। इसी से खिन्न होकर आपने अपनी क्षत्रपी के ३६ गाँवों मे से एक गाँव देवगढ़ को छोड़कर शेष ३५ गाँवों को तत्कालीन अगोरी-बड़हर नरेश राजा मकरध्वजशाह को इस शर्त पर दे दिया कि यदि हमारे खानदान मे कोई वारिश होगा तो आप हमारे ३५ गाँव वापस कर दीजियेगा अन्यथा ये आपके हो जायेंगे।

परम तेजस्विनी भक्तिमती गड़ेरिनबाई के कृपा-प्रसाद-स्वरूप आपको युगल महामहनीय पुत्र-रत्नों की प्राप्ति हुई, जो कालान्तर में बाबू सङ्ग्रामसिंह और बाबू हाकिमसिंह की संज्ञा से अभिलङ्कृत हुये। बड़े होने पर बाबू सङ्ग्रामसिंह ने अपने ३५ गाँवों की माँग की, परन्तु बड़हर नरेश ने 'दिया हुआ दान क्षत्रिय नहीं माँगते हैं' कहकर उनकी माँग को ठुकरा दिया।

बाबू रणञ्जयप्रतापबहादुर सिंह उच्चकोटि के कवि थे। मुझे शाहगञ्ज प्रवास के समय अपने पौरोहित्य स्व० पण्डित ओंकारदेव पाण्डेय के द्वारा स्मृत्याधार पर आपके द्वारा प्रणीत कतिपय छन्दों के अनुश्रवण का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसी समय मैंने उन छन्दों को लिपिबद्ध किया।

बाबू रणञ्जयप्रतापबहादुर सिंह का समय रीति-काल का उत्तरार्द्ध था। गद्य की परम्परा का विकास-मार्ग अवरुद्ध था। आपके समकालीन राजन्यवंशो के सम्वाहक नरेशों में भी अथाह साहित्यानुराग प्राप्त होता है। रीवा-नरेश विश्वनाथ सिंह इसी काल-खण्ड का प्रतिनिधित्व अपनी उत्कृष्ट रचनाओं के

माध्यम से करते हैं।

बाबूसाहब राधा-माधव की त्रिलोक मोहिनी छवि के परम रसिक भक्त कवि थे। आपकी रचनाओं में राधा रानी और मनमोहन भगवान् श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण मथुरा प्रवास के समय उद्विग्न गोपियों सहित राधा को समझाने के लिए उद्धवजी को ब्रह्मदूत बनाकर भेजते हैं। कृष्ण के पत्र को हाथ में लेकर विचार करती राधालली की मनोदशा का चित्रण करते हुए बाबू साहब ने लिखा है –

वृषभानुलली हृदि-सागर ते चुनि मोतिन माल लुटावन लागीं।
रस राशि रची गितिया रचि आपुहिं आपु मनेमन गावन लागीं।
कर पत्र लिए उर भाव सम्हारति कञ्ज हिये समुझावन लागीं।
गगरी भरि आँसू 'रणञ्जय' तबौ बड़की आँखियाँ ढरकावन लागीं।।

कितना सुन्दर एवं मार्मिक मनोदशा का चित्रण कवि की चतुर लेखनी से हुआ है। पद्य का प्रपठन करते समय सम्पूर्ण सन्दर्भित चित्र मूर्त रूप ग्रहण कर लेता है।

एक ऐसी भी स्थिति होती है जब नायक अथवा नायिका स्वतः के अस्तित्व को भूल जाते हैं। नायक-नायिका के और नायिका नायक के स्वरूप में अर्थात् दोनों स्वतः को एक-दूसरे में समाहित कर लेते हैं। ऐसी स्थिति का चित्रण वही कर सकता है जो साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा नायक-नायिका के हृदयगत भावों को सर्वथा हृदयङ्गम कर ले। बाबू रणञ्जयप्रतापबहादुर सिंह की एक दुर्मिल नामक सवैया में ऐसा ही चित्रण हुआ है। यथा –

प्रिय कै अनुरागहिं चित्त रमा खुद आपुहिं आपु को भूलि गईं।
लखि मोहनि मूरति मोहै मनोजहिं आनन सो हिय हूलि गईं।
मन माँहि हँसैं तुरतैं बिसुरैं पुनि धीर कलिन्दजा कूलि गईं।
पुलरी पतुरी बनि नाँचैं 'रणञ्जय' टक्कि लगी जनु तूलि गईं।।

एक और ऐंसी ही सुन्दरी सवैया में कृष्ण और राधा के मनोविनोद का दृश्य दर्शनीय है –

यमुना तट छाँह कदम्ब खड़ी वृषभानुलली लखि मोहन ताकैं।
कबहूँ पुतरी मटकाइ नचावत वेणु बजाइ रिझा मन आँकैं।

रति-कीरति-सी रस-रम्य लला अवगाहत प्रीति-प्रभा छवि छाकैं।
पद-पंकज प्यारे 'रणञ्जय' पायल ह्वै दृग राधिका अन्तस झाकैं।।

कविता – कामिनी में अहर्निश रमण करने वाले कवि-केहरि बा॰ रणञ्जयप्रतापबहादुरसिंह ने प्रियतम के वियोग-ज्वर से ग्रसित विरहिणी नायिक का वर्णन दुर्मिल सवैया में किया है, जो सर्वथा उल्लेखनीय है –

सजनी सजि सावन कीरतिया विकसै शुचि पूनम की रतिया।
पतियाहिं नहीं जिय मोर अकेलहिं भेजे नहीं सजना पतिया।
बरसातहिं सौतिन लै कजरी मड़राइ रही बिरही बतिया।
छितिराइ रही छति आइ 'रणञ्जय' रोजन मनोज दहै छतिया।।

बाबू साहब स्वयं ताल्लुकेदार थे, किन्तु तत्कालीन ताल्लुकेदारों, जमींदार और राजाओं की श्रृङ्गारी प्रवृत्ति के वे कट्टर विरोधी थे। इसी कारण उन्होंने ऐसे श्रृङ्गारी राजाओं पर व्यंग्य करते हुए लिखा है –

बैठे अकेले रहे रंग रावटी प्यारी पठाई गई तँह नाइनि।
देखत ही रहे रीझि 'रणञ्जय' वाको सुरूप सुशील सुभाइनि।
कै विनती उलटोही भई सुगाही उन बाँह परी तब पाइनि।
'ऐजू! अजू! अजु! ऐसो न कीजिये हाँ ' हाँ ! हमैं खिझिहैं ठकुराइनि।।

बाबू रणञ्जयप्रतापबहादुरसिंह इस अञ्चल के अमूल्य रत्न थे। यद्यपि सङ्कलन एवम् उचित संग्रह के अभाव में उनकी समस्त रचनाएँ समुपलब्ध नहीं हो पायी हैं तथापि जितनी उपलब्ध हो पायी हैं भविष्य में अलग से उनका सम्पादन प्रकाशन सुनिश्चित होगा तभी उनके सामर्थ्यवान् कर्तृत्व से जन-जन परिचित हो सकेगा और यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

❖❖

शिवद्वार चौरासी के अवशेष

अविभक्त मीरजापुर जनपद का दाक्षिणात्य परिक्षेत्र, जो रियासते कतित का आलिङ्गन कर सिगरौली एवं विहार को निज अस्मिता का बोध कराता है तथा अगोरी रियासत एवं धार्मिक पृष्ठभूमि पर पुराअघोरभद्रपीठ के नाम से सुख्यात् है, पर दशवीं शताब्दी में वालन्दवंशीय शासकों का आधिपत्य स्थापित था। अगोरी की पश्चिमोत्तरी सीमा सुरक्षा की दृष्टि से सोढ़रीगढ़ अर्थात् सुन्दरीगढ़ (शिवद्वार) को सैनिक छावनी का रूप दिया गया था, जिसकी अन्तिम प्रबन्धिका वालन्द नरेश मदनशाह की विधवा भाभी रहीं, जिसका पर्याप्त प्रमाण सन् १९२७-२८ ई० की सरस्वती और मधुरी नामधेया पत्रिकाओं में प्राप्त होता है। तत्कालीन वेतन पद्धति मनसबदारी के रूप में प्रचलित थी। सुन्दरीगढ़ भी मनसबदारी प्रथान्तर्गत चौरासी ग्रामों के सुरम्य परिक्षेत्र से आवेष्ठित अगोरी राज्य की शक्तिशाली सैनिक-छावनी एव सशक्त क्षत्रपी की गरिमा से मण्डित था। चौरासी ग्रामों का सुरम्य इलाका वन-वीथियों के मध्य सुन्दर नगरयोजना परिकल्पना को मूर्तवत् स्वरूप प्रदान कर सुसंस्कृति एवं सभ्यता का परिचायक था, जिसके अवशेष आज भी भैरवा, बेलवनियाँ, भरकना, महाँव, देवगढ़, हिरनसुरी, कन्हरा, वरदिया, सतद्वारी, शिवद्वार, गौरीकुण्ड (गाँवकुण्डा) प्रभृति ग्रामों में अद्यतन विद्यमान हैं।

शिवद्वार चौरासी के परिक्षेत्र में मिले भग्नावशेष ये प्रमाणित करते हैं कि कभी यह क्षेत्र एक सुन्दर नगर के रूप में अपनी अस्मिता को दीप्तमान करता हुआ राज्य में अपना अग्रगण्य स्थान रखता था। नगर-योजना भी अत्यन्त ही बुद्धिमत्ता और कार्यदक्षता से सम्पादित की गई थी, जिसके अवशेष आज भी उसे रूपायित करते हैं। अवशेष मात्र के रूप में शेष विखरा सुनहरा स्वप्न वालन्दकालीन नगरीय व्यवस्था को प्रदर्शित करने में जहाँ अहम् भूमिका का सर्वथा निर्वहन करता है वहीं चन्देलकालीन जागीरदारों के भग्न प्रासाद भी वास्तु शिल्प की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

अगोरी राज्य के आस्तित्व में आने से पूर्व यह समस्त क्षेत्र विजयगढ़ रियासत के अन्तर्गत था। उस काल क्रम में इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय

भरों द्वारा सृजित किया गया, जिसकी भौगोलिक रूपरेखा भदोही से लेकर अगोरी तक के क्षेत्र को रेखाङ्कित करती है। भरों के राज्य में कुछ विशेष स्थान भर संज्ञा संयुक्त हो भरों के आदिम-उद्भव-स्थान 'भरुकच्छ' की अस्मिता का परिज्ञान कराते हैं। सम्प्रति भरकना, भगाही, भरहरी, भरपुरा प्रभृति गाँव आज भी भरों की गरिमा, महिमा एवं भव्यता को उजागर करते है। तत्कालीन अवशेष भी शिवद्वार चौरासी की सीमा में अवस्थित हैं परन्तु एकाध को छोड़कर निश्चयात्मक रूप से यह निर्णय नहीं लिया जा सकता कि कौन-सा अवशेष अपने भग्न कलेवर में भरों का इतिहास समेटे हुये है और कौन-सा बालन्दों का। यद्यपि बहुतायत संख्या मे बिखरे अवशेष बालन्दो के ही हैं, तथापि भरकना और भगाही के खण्डहरावशेष भर संज्ञक संस्कृति का परिबोध कराते हैं। इसी भाँति भैरवा, बेलवनियाँ और देवगढ़ के प्रासाद खण्डहर चन्देल ताल्लुकेदारों से सम्बद्ध हैं।

भरों के समय भवन-निर्माण कार्य सुर्खी, गारा, खैर, चूना, कत्था, बेल इत्यादि सामग्रियों की सहायता से सम्पन्न किया जाता था। इसी परम्परा का निर्वहन बालन्द काल में भी किया गया, अन्तर सिर्फ ईंट का था। भरों की शासनावधि में विनिर्मित ईंटें अपेक्षाकृत काफी सुडौल एवं बड़ी होती थीं। ईंट से बनी इमारतों के खण्डहर अपनी पर्याप्तता से ही इस क्षेत्र की समृद्धि को प्रदर्शित करते हैं, तथापि किसी भी इमारत का स्वच्छ स्वरूप रेखाङ्कित नहीं किया जा सकता, क्योंकि आज वे अपने अस्तित्व को पूर्णरूपेण भूगर्भित कर स्थानीय भाषा में डीह का स्थान ग्रहण कर चुकी हैं।

चन्देलकालीन अवशेष, जो शिवद्वार चौरासी में विद्यमान हैं और रुहेलखण्डीय भवन निर्माण कला संस्कृति के प्रतिदर्श सदृश प्रतिस्थापित थे, की वास्तुशिल्प-कला उच्चकोटि की थी परन्तु उनका भी स्वरूप विलीन-सा हो गया है। इमारतें पत्थरों को तरासकर बनाई गई थीं एवं बीच में सुन्दर कुएँ की निर्माण योजना भी सम्पन्न की गई थी। सम्प्रति कुए भी काल-प्रवाह मे ध्वस्त होकर पट-से गये हैं। बेलवनियाँ और देवगढ़ की अपेक्षा भैरवा में बिखरे भग्न खण्डहर का कुआँ अस्तित्व में है। भैरवा, बेलवनियाँ एव देवगढ़ के खण्डहरों का सम्बन्ध क्रमशः बाबू गुमानभञ्जनसिंह, बाबू उद्धितगुलालसिंह तथा बाबू गजराज सिंह से रहा है

अभी हाल मे ही जागिन्द्रा नहर परियोजना क क्रियान्वयन सम्बन्ध मे ा रही खुदाई के अन्तर्गत एक प्राचान कुए का अवशेष हिरनखुरी मे प्राप्त ्आ है, जो ईंट एवं सुर्खी-गारा की सहायता से निर्मित किया गया था। इसी प्रकार बरयाँ में भी एक कुआँ है, जो उसी काल की संस्कृति-सभ्यता का परिबोध कराता है। शिवद्वार चौरासी के खण्डहर आज भी अपने समृद्धि की कहानी का आँखों देखा हाल मौन मूक वाणी में प्रकट करने को समुद्यत प्रतीत होते हैं। खण्डहरों के एक-एक ईंट और पत्थर इतिहास की वर्णमाला बन चुके हैं। आवश्यकता है एक ऐसे व्याकरण की जो बिखरे वर्णमाला के शब्दों का प्रपठन कर एक क्रमबद्ध वास्तु शैली का अध्ययन प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध हो सके।

शिवद्वार मन्दिर निर्मात्री बहुरिया अविनाश कुँवरि

शिवद्वाराधिपति आषुतोष भगवान् उमामहेश्वर की समर्चा में जीवन व्यतीत करने वाली सहृदया भक्तिरसान्विता बहुरिया अविनाशकुँवरि का जन्म अगोरी-बड़हर-राज्य से निर्गत ताल्लुका मोकरसिम के ख्यातलब्ध ठाकुर और रानी वेदशरणकुँवरि के समय में राज्य के प्रबन्धक रह चुके बाबू झुलुरसिंह की दुहिता के रूप में हुआ। बाल्यकाल से ही चन्देलवंश की कुलीन कुल-दीपिका का चित्त मीरा की भाँति भगवत् पदारविन्द में रमणकरता रहा। शनैः-शनैः पिता के गृह में बड़ी होती धीर ललित सगुणोपेता सुता अविनाशकुँवरि षोडश बसन्त पार कर चुकीं। बाबू झुलुरसिंह को दुहिता के पाणिग्रहण की चिन्ता हुई। संयोगवशात् उन्हें योग्य वर की तलाश में अधिक भटकना नहीं पड़ा। विजयपुर राज्य के भाई नौगवा चौरासी के ताल्लुकेदार बाबू भोलासिंह गहरवार के एकमात्र पुत्र बाबू अनन्तप्रतापसिंह का पाणिग्रहण जमगाँव के बाबू विश्वनाथसिंह की पुत्री से हुआ था। बाबू विश्वनाथसिंह को कोई पुत्र सन्तति नहीं थी। अतएव उन्होंने अपने जामाता बाबू अनन्तप्रताप सिंह को अपनी समस्त सम्पति का वारिश बनाकर राज्य से गुजारे में प्राप्त सतद्वारी प्रभृति अपने गाँवों का उत्तराधिकारी नियुक्त किया। विश्वनाथ-सुता से बाबू अनन्तप्रतापसिंह को एक पुत्र बाबू जगतबहादुरसिंह की प्राप्ति हुई। इन्हीं बाबू जगतबहादुरसिंह जी से बाबू झुलुरसिंह ने अपनी कन्या-रत्न अविनाशकुँवरि का पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न किया। अत्यन्त हर्षोल्लास पूर्वक अविनाश सतद्वारी (शिवद्वार) में आयीं। भगवत् भजन और पति पाद-पद्म की सेवा में समय व्यतीत होने लगा।

काल की गति अनवरत चलती रही और प्रभु की माया का विस्तार होता रहा। होनी कब अनहोनी में परिणत हो जाय इसे कौन जानता है। विवाह के कुछ ही समय बाद बाबू जगतबहादुरसिंह अपने ननिहाल जमगाँव में गये। रात्रि में भोजन करने के पश्चात् शैय्या पर शयन करने चले गये। रात्रि व्यतीत हुई। हँसती हुई उषा अपना घूँघट उठा कर संसार के सम्मुख पुनः अवतरित हुई, परन्तु बाबू जगतबहादुरसिंह शैय्या पर चिर निद्रा में निमग्न रहे। उन्होंने

मात्र २२ वर्ष की अल्पायु में इस असार संसार का परित्याग कर दिया। अविनाश के जीवन में वैधव्य का अन्धकार पसर गया। रंग-विरंगे परिधानों का स्थान श्वेतहिमवत वस्त्रों से ग्रहण कर लिया। सुनहरी दुनिया विदा हो चुकी थी यदि कुछ अवशिष्ट बचा था तो मात्र अविनाश की पहाड़-सी जिन्दगी। कौन जानता था कि बाबू जगतबहादुर सिंह का ननिहाल जाना उनके लिए काल बन जायेगा।

पति की असामयिक मृत्यु के अनन्तर बहुरिया अविनाशकुँवरि के सम्मुख उत्तराधिकार की विकट समस्या उत्पन्न हो गई। संकट की विषम घड़ी में उन्होंने अत्यन्त धीरज से कार्य किया। निःसन्तान होने के कारण बहुरिया अविनाशकुँवरि ने स्वयं अपने साठवर्षीय स्वसुर बाबू अनन्तप्रतापसिंह का द्वितीय विवाह डढिया-चोरहट की बघेल कन्या कैलाशकुँवरि के साथ सम्पन्न कराया। पुत्र द्वारा पिता के पुनर्विवाह कराने का आख्यान तो प्राप्त होता है, किन्तु पुत्रवधु द्वारा श्वसुर के पुनर्विवाह का प्रकरण शायद ही दूसरा उपलब्ध हो सके। अविनाशकुँवरि के इस अभूतपूर्व कृत्य तथा भगवान् शिव के कृपा-प्रसाद-स्वरूप सतद्वारी के नूतन प्रतिष्ठित गहरवार वंश की चिरशान्त ज्योति पुनः प्रदीप्त हो उठी। पतिपरायणा बहुरिया अविनाशकुँवरि ने सन् १६४२ ई० में भगवान् शिव के भव्य मन्दिर का निर्माण अपने दिवंगत पति की स्मृति में कराया। मन्दिर निर्माण हेतु पत्थरों का आयात चुनार से किया गया। वहीं के शिल्पकारों द्वारा दो वर्ष की अविराम पच्चीकारी के पश्चात् पत्थरों का सुघर स्वरूप मुखरित हो उठा और पुनः एक वर्ष की निरन्तर श्रम-सरिता का अवगाहन कर वर्तमान मन्दिर निर्मित हुआ। तब से आज तक मन्दिर में कुछ-न-कुछ निर्माण कार्य होता ही रहा। बहुरिया अविनाशकुँवरि ने गर्भगृह और परिक्रमा परिपथ हेतु विशल चत्वर का निर्माण कराया था अनन्तर वाह्य मण्डप का निर्माण १९८५ ई० में और परिक्रमापरिपथ का निर्माण सन् २००० ई० में हुआ।

मन्दिर के अतिरिक्त बहुरिया अविनाशकुँवरि ने सतद्वारी में ही एक धर्मशाला का निर्माण सन् १९५२ ई० में कराया। धर्मशाला की प्रत्येक शिला जीवन्त करती है अविनाश की अविनाश स्मृति कल्प गाथा को। जमींदारी का उन्मूलन हो जाने के कारण आज सतद्वारी में स्थित उक्त वंश के कर्णधार

धर्मशाला की उचित सुरक्षा नहीं कर पा रहे हैं। शासिका ठकुराइन साहिबा के अभाव में वर्तमान शासन को उसकी उचित सुरक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।

अविनाश कुँवरि प्रतिवर्ष श्रावण मास में काशी और माघ मास में प्रयागवास किया करती थीं। काशीवास की दृष्टि से ही उन्होंने वाराणसी में एक सुन्दर कोठी क्रीत किया, जो आज भी उनकी महत्वाकाँक्षा और धार्मिक प्रवृत्ति एवम् दया-तितिक्षा-सहिष्णुता समन्वित विराट् व्यक्तित्व की मूक साक्षी है।

परमभट्टार्क जगन्नियन्ता विश्वनाथ की भक्तिपूर्वक आराधना करती हुई अविनाशकुँवरि का काशी में ही जुलाई १६७० ई० में स्वर्गवास हो गया। धार्मिक वृत्ति और उस पर भी मोक्षदा काशी में स्वर्गलाभ कामना से देह त्याग एक प्रकार से मणिकाञ्चन योग ही है। गोस्वामी जी के निम्न सोरठे को उद्धृत करते हुए मैं प्रातः स्मरणीया दिवंगता धर्म सहिष्णु चन्देल राजवंश को इस अमर आर्या की स्मृति में अपना प्रणाम-दीप निवेदित करता हूँ –

मुक्ति जन्म महि जानि, ग्यान खानि अघहानि कर।
जहँ बस संभु भवानि, सो कासी सेइअ कस न।।

– रामचरितमानस।।४।।१।।

सतद्वारी (शिवद्वार) गहरवार वंशावली

❖❖
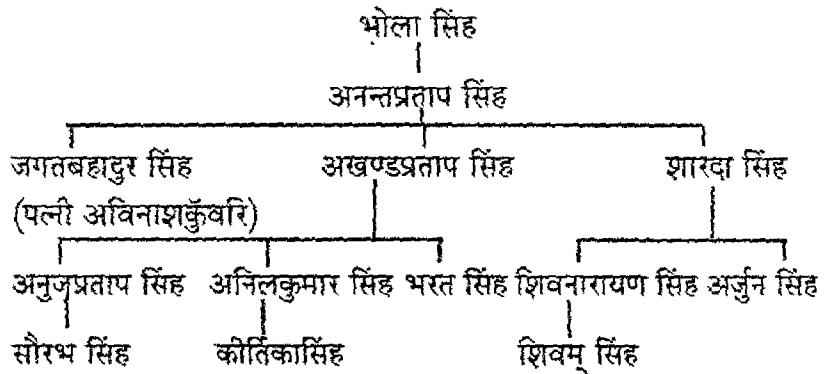
शिवद्वार कॉवर-यात्रा परम्परा और माहात्म्य

'त्रयी साख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णव मिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पत्थमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजु कटिल नाना पथ युषाम्
नृणामेकोगम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।'

– *शिवमहिम्नस्तोत्र*

सम्पूर्ण चराचर और अनेक विधसृष्टि की लोकमङ्गल भावना की महज सम्प्राप्ति जिस महनीय सनातन व्यक्ताव्यक्त सगुण-निर्गुण निर्वक्त्र वहुवक्त्र लोहितकेश व्योमकेश किम्बहुना चिन्तामणिमन्त्र को भी पराभूत करने वाली वाणी निर्वाणी उभयविध वर्णनीय अवर्णनीय माता-पिता के रूप में सतत सर्वलोक शिवतत्व प्रदायिनी महाशक्ति सम्पन्न शिवद्वार के जगदाधिदेव आदिदेव महादेव के अनुग्रह से ही अकारण करुण करुणा वरुणालय अनाथनाथ भूतनाथ भगवान् शिवद्वाराधिपति का जिस भक्त पर जैसा अनुग्रह होता है वह भक्त उसके अनुरूप ही अपना भक्तिभाव निवेदित करता है। भक्त और भगवान् में अभेदबुद्धि चिरन्तन सत्य का जब अभेद दृष्टिगोचर हो जाता है तो भक्त मन, बुद्धि, अहंकार को भक्तिप्राप्त होते ही छोड़ देता है, किन्तु जब तक शरीर का भान रहता है तब तक की पराकाष्ठा से भी परे सर्वसमर्पण अर्थात् काया-समर्पण सर्वोत्तम भक्ति है।

कबीर ने एक जगह कहा है जिसका भाव है कि मैं तो भजते-भजते हे भगवान् थक गया। अब भगवान् तुम्हारी इच्छा हो तो तुम मुझे भजो। अर्थात् ये भगवान् अब तू मुझे भज ! यह स्थिति सहज स्थिति है। इसमे पञ्चज्ञानेन्द्रीय, पञ्चकर्मेन्द्रीय, ग्यारहवाँ मन ये सबके-सब उस स्थिति मे पहुँच जाते हैं जहाँ से किसी-किसी पुण्यशाली के हृदय में भक्ति का उत्स स्वतः स्फूर्त हो उठता है।

सम्भवतः ऐसे ही विचारों से सम्पृक्त महानुभावों ने स्कन्धावरि > कन्हवारि = कन्ह (कन्धा) वारि (जल) > काँवर द्वारा भगवच्चरण संसृक्ति हेतु अज्ञातकाल से ही तत्तत् भौगोलिक भू भागों में अवस्थित अखण्ड चित् अचित् विलासविहित विहँसित सर्वज्ञतोपाधि विलक्षण विचक्षण नटराजराज

की समचा के निमित्त कावरियो के विविच्छिन्न धारा का वर्तमान दशको म पुनरुज्जीवित करने आर चेतना को त्वरितकाल मे चतुर्दिक प्रचारित ओर प्रकाशित करन मे जिन महानुभावो ने प्रशंसनीय अभिनन्दनीय सम्प्रेरणीय काँवर-यात्रा द्वारा भगवान् शिवद्वाराधिपति की समर्चा की है और जिनकी प्रेरणा से इस लेख के लेखक को भी काँवर-यात्रा का भगवदनुग्रह प्राप्त हुआ है, उनकी जीवन शैली स्वतः लोकमङ्गल की अभिप्रेरणा सिद्ध होती है।

सुरासुरार्चित देवाधिदेव भगवान् त्रिनयन गङ्गाधर उमामहेश्वर काशी की खण्डपीठ आदि नगरी शिवद्वार में अपनी महिमा का प्रसार निरन्तर किसी-न-किसी व्यक्ति को अपना आदेश प्रदान कर करते ही रहते है। अर्थात् किसी विशिष्ट कार्य की परिकल्पना उसकी सम्पूर्ति तद्विषयक प्रयत्न अपने किसी अतिप्रिय भक्त के हृदय-पटल पर भावना की लेखनी से सृजित करके पूर्णत्व की ओर अग्रसर होना ही विश्वस्रष्टा की प्रवृत्ति है। 'भगवान् शिव के जगद्विख्यात् द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों पर जिस प्रकार अनादिकाल से काँवर-पद्धति द्वारा अभिषेक होता है उसी प्रकार से शिवद्वाराधिपति का भी अभिषेक हो' इस प्रकार की अन्यतम् भावना का उदय यदि किसी बीस वर्षीय युवक के हृदय-पटल पर हो और वह युवक इस भावना को मूर्तरूप में परिणित कर दे तो इसे उसी परमपिता परमेश्वर की इच्छा का परिणाम ही मानना श्रेयस्कर प्रतीत होता है।

आरण्यक-संस्कृति में रचे-बसे आदिम गुह्यवनवासियों के मध्य मे निवास करने वाले भक्त प्रवर बैजू अहीर के स्वामी शिवद्वारेश्वर उमामहेश्वर की इच्छा की इच्छा का विस्तार उस समय मूर्तवत् स्वरूप ग्रहण किया, जिस समय सन् १९८६ ई० में सनातन काल से चली आ रही काँवर-पद्धति की महनीय परम्परा, जो कालप्रवाह में किसी कारणवश विच्छिन्न हो गई थी, को पुनः प्रारम्भ करने की योजना सन् १९६५ ई० में जन्में श्री परमेश्वर दयाल श्रीवास्तव ने बनायी। उस समय परमेश्वर की अवस्था २० और २१ वर्ष की सन्धि पर अवस्थित थी। अर्थ की आधारशिला का भी कोई समुचित प्रबन्धन इनके पास उस समय नहीं था। पूर्णतः अपने अग्रजों के आश्रित थे। इसके बावजूद भी काँवर-यात्रा जैसी महनीय परम्परा का नीव पूजन करने हित बद्धपरिकर थे। इन्होंने अपनी इच्छा घोरावल बाजार के अन्य लोगों के समक्ष प्रकट की। इनकी धार्मिक भावना का लोगों ने सम्मान

किया और काँवर-यात्रा हेतु निकल पड़े। १९८६ ई० में श्रावण मास के अन्तिम सोमवार को शिव जलाभिषेक करने के लिए घोरावल बाजार से १३ सदस्यीय काँवरिया-मण्डल मीरजापुर के ऐतिहासिक बरियाघाट से गङ्गाजल लेकर शिवद्वार की ओर शनिवार को ही चला, जिसमें दो काँवरियों का व्रत मार्ग की दुरूहता और नियम काठिन्य के कारण भङ्ग हो गया। शेष ११ भक्तों ने सोमवार को अपने आराध्य का अभिषेक अत्यन्त श्रद्धा समन्वित भक्ति पूर्वक किया। श्री परमेश्वरदयाल श्रीवास्तव की प्रेरणा से काँवर-यात्रा प्रारम्भ करने वाले आदि काँवरियों का शुभास्पद नाम क्रमशः जितना ज्ञात हो सका वह इस प्रकार है – सर्वश्री डॉ० सुग्रीव पाण्डेय 'बच्चा', घनश्यामदास केडिया, द्वारकाप्रसाद खेमका, लवकुशकुमार उमर, माताप्रसाद गैनियार, सुनीलकुमार उमर, श्दामा विश्वकर्मा, सरजू विश्वकर्मा, विजयकुमार उमर आदि।

बरियाघाट से गङ्गाजल लेकर नङ्गे पाँव शिवद्वार तक की सम्पूर्ण यात्रा लगभग ६७ किमी० चलकर पूर्ण करने वाले शिवभक्तों का जीवन धन्य है। मार्ग की दुर्गम कठिनाइयों को सहर्ष स्वीकार करते हुए निरन्तर शिवद्वार की ओर उन्मुख इन ग्यारह शिवभक्तों की सेवा में परमेश्वर जी शनिवार से सोमवार तक अहर्निश लगे रहे, जब तक गङ्गाजल शिव शिखर से होता हुआ उनके श्री चरणों को प्रक्षालित नहीं कर लिया।

दूसरे वर्ष १९८७ ई० को भी श्रावण मास के अन्तिम सोमवार को अभिषेक करने के लिए परमेश्वर-प्रेरित उक्त भक्तों का समूह भागीरथी की ओर उन्मुख हुआ। ग्यारह आदि-काँवरियों के अतिरिक्त दूसरे वर्ष सर्वश्री वीरेन्द्रकुमार उमर, अवधेश अग्रहरि, अमरेशचन्द्र उमर, राजेशकुमार 'बब्लू', प्रकाशचन्द्र उमर, विजयशंकर श्रीवास्तव, दिनेशकुमार पाण्डेय, देवकुमार उमर, रमाशंकर उमर, कैलाशनाथ उमर प्रभृति दस सदस्य और इस काँवर-यात्रा में बढ़े। इस प्रकार १९८६ ई० से १९८९ ई० तक प्रतिवर्ष श्रावण मास के अन्तिम सोमवार को ही जलाभिषेक शिवद्वाराधिपति का होता रहा। काँवरियों की संख्या में वृद्धि होती रही, परन्तु काँवरियों की सेवा अकेले ही परमेश्वर करते रहे। उनकी एकल सेवा १९९० ई० तक चलती रही अनन्तर उनकी देखा-देखी अलग-अलग पाँच समूह काँवरियों की सेवा के लिए १९९१ ई० से कटिबद्ध हुये, जिनका विवरण निम्न है –

प्रथम समूह . इस समूह के प्रमुख सदस्य सर्वश्री परमेश्वरदयाल श्रीवास्तव उदित अग्रहरि, अशोक मोदनवाल, अवधेशकुमार उमर, ओमप्रकाश मोदनवाल, राजेशकुमार मोदनवाल, करुणाकर पाठक, लवकुशकुमार उम आदि हैं।

द्वितीय-समूह : इस समूह में काँवरियों की सुश्रुषा करने वाले सेवियों में डॉ० सुग्रीव पाण्डेय 'बच्चा', द्वारकाप्रसाद खेमका, राजबहादुर सिंह (महाँव), सन्तोष पान वाले प्रभृति का नाम विशेषोल्लेखनीय है।

तृतीय-समूह : यह समूह दीपचन्द, गोपालदास, प्रह्लाददास आदि का है।

चतुर्थ-समूह : इस समूह के प्रमुख सेवी शिवव्रतलाल श्रीवास्तव तथा उनके सहयोगी तेजबहादुर सिंह हैं।

पञ्चम समूह : यह समूह उक्त चार समूहों से थोड़ा-सा भिन्न है। यह समूह काँवरियों को जलपान, मिष्ठान्न, भोजन, चाय आदि न देकर मात्र औषधि के द्वारा व्याधि निवारण का कार्य करता है। इसका सञ्चालन सन्तोष औषधि भण्डार के सौजन्य से होता है।

इसके अतिरिक्त कतिपय मीरजापुर वासियों का भी काँवरिया सेवी संघ है, जो मीरजापुर से लेकर बकहर नदी तक अपना शिविर लगाता है।

सन् १९९० ई० से श्रावण मास के प्रत्येक सोमवार को जलाभिषेक होने लगा। इसी के साथ काँवरियों की संख्या में अपार वृद्धि हुई। शिवद्वार की इस अद्वितीय काँवर-यात्रा में एक नूतन अध्याय का आरम्भ सन् १९९४-९५ ई० में हुआ। 'सोनभद्र काँवरिया संघ' के तत्वावधान में ऐतिहासिक चन्देल दुर्ग विजयगढ़ के परिसर में अवस्थित 'रामसागर तड़ाग' से भी जलाभिषेक करने की योजना चरितार्थ हुई। इस संघ के तत्वाधान में बड़ी भारी संख्या में काँवरियों का एक समूह शिवद्वार में आकर अपने आराध्य देव का अभिषेक करता है।

आज गङ्गा और रामसागर से जल लेकर आने वाले शिवभक्त काँवरियों की संख्या लक्षाधिक हो चुकी है। श्रावण मास में शिवद्वार की कमनीय सुषमा द्विगुणित हो उठती है। गैरिक परिधानों से आवृत स्कन्ध पर लटकती स्कन्धावरि की शोभा को धारण किये हुए शिव भक्तों का विशाल विस्तार गङ्गातट से लेकर शिवद्वार मन्दिर-परिसर तक फैला रहता है। 'बोल बम' का

गगनभेदी नाद गूँजता रहता है। परमेश्वर-प्रेरित १६८६ ई० की काँवर-यात्रा जहाँ ११ सदस्यों के द्वारा प्रारम्भ हुई वहीं यदि आज पूरे श्रावण मास में ११ लख से भी अधिक काँवरिये आते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। यह उसी जगन्नियन्ता की महिमा का सुप्रसार नहीं तो और क्या है?

परमेश्वरदयाल श्रीवास्तव की प्रतिष्ठा घोरावल में उत्तरोत्तर सम्वर्द्धित होती रही, यह भी प्रभु-कृपा ही है। आज वे एक श्रेष्ट व्यवसायी, कुशल नेता, कर्मठ पत्रकार, सफल समाजसेवी और 'पुष्कर' उपाख्य सुकवि के रूप में श्रुत-विश्रुत हुये यही शिवेच्छावलीयसी की चरितार्थता है। और उसका माहात्म्य भी।

काँवर-यात्रा मनुष्य के स्वच्छ हृदय और अन्यतम भक्ति का प्रतीक है। इस काँवर में सन्नद्ध पात्रद्वय, जो गङ्गाजल से भरे होते हैं तद्भक्त के कुलद्वय मातृ-पितृ की सहज ही उद्धार कामना से निहित होते हैं। काँवर का जल शिव शिखर पर विद्यमान भागीरथी गङ्गा के वात्सल्यमय सुअङ्क में जाकर स्वयं आह्लादित होते हुए उस भक्त के गतागत सप्त पीढ़ियों का उद्धार करता है। ऐसी परम्परा से चली आ रही भारतीय मनीषा की मान्यता है। धन्य हैं वे प्रभु तथा धन्य हैं वे भक्त और साथ ही धन्य हैं उनके सत्प्रेरक, जो इस काँवर-यात्रा के कारण और कारक हैं। आज काँवर-यात्रा में सम्मिलित होकर न जाने कितने भक्तों का जीवन सनाथ हो रहा है और न जाने कितनों को भविष्य में सद्गति प्राप्त होगी यह सब शिवद्वाराधिपति के महिम्न का उत्कर्ष है। कहा नहीं जा सकता कि कब किस पर और किस माध्यम से अकारण करुण करुणावरुणालय की सत्कृपा हो जाय। सभी तो काँवर-यात्रा में नहीं चले जाते? इस अलौकिक महायात्रा में वही पुनीतात्मभक्त सम्मिलित होता है, जिसके निर्मल हृदय में शिवप्रेरित भक्ति जागृत होती है। और शिवप्रेरित भक्ति उसी के हृदय में जागृत होती है, जिसका मन शिव चरणों का चञ्चरीक है।

❖❖

बरकन्हरा और मुगलमारा : एक दृष्टि मे

निसर्ग की सर्वव्यापिनी सुषमा से ओतप्रोत उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश की सीमा को विलगाने में सक्षम जनपद सोनभद्र के विन्ध्याटवी परिक्षेत्र के समीपस्थ कन्हरा नामक ग्राम अद्यतन अवस्थित है, जो पूर्वकाल में लतागुल्मो से परिव्याप्त पर्वतीय नहीं अपितु मिट्टी की गड़ई (टीला) श्रृङ्खला एवं कन्दरा के रूप, विद्यमान था। कालान्तर में शिवद्वार से देवगढ़, भरकना तक एक सुन्दर नगर की परिकल्पना की गई और परवर्ती परिणति में विशाल प्राचीरों से युक्त सुन्दर सुदृढ़ नगर अपने अस्तित्व में रहा जो सन्दरीगढ़ कहा जाने लगा। उसी नगर की दक्षिणी और पश्चिमी सीमा कन्हरा के रूप में रही। जहाँ एक ओर नगर की सुरक्षा हेतु विशाल सुदृढ़ प्राचीरों का निर्माण किया गया था वहीं विन्ध्य की खड़ी विशालकाय श्रृङ्खलाएँ प्रकृति प्रदत्त प्रहरी के रूप में स्थित थीं।

समय का सिलसिला कुछ यूँ चला कि प्राचीर ध्वस्त हो गये और परिकल्पना के पश्चात् अस्तित्व में आया नगर आज पुनः कल्पना हो गया। नगर के इसी प्राचीर से प्राप्त दो सुन्दर मूर्तियाँ कन्हरा में दो अलग-अलग देव प्रासादों में स्थापित की गई हैं। प्रथम मूर्ति रणचण्डिका दुर्गा की है और द्वितीय श्रीहरि विष्णु की। इसके अतिरिक्त अनेकशः भग्न प्रतिमाएँ यहाँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। शक्ति उपासनाङ्क में अनेक यन्त्रों यथा-श्रीयन्त्र, मणिपूरकचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, आधारचक्र आदि का उल्लेख किया गया है, जो यहाँ के कलाकारों द्वारा पाषाण खण्डों पर सजीव रूप में उकेरे गये हैं और आज भी विद्यमान है। दुर्गा की प्रतिमा अद्भुत रूप में है। ऐसा रूप तो शायद ही देवी भागवत में भी प्राप्त हो सके, किन्तु ऐसा कहना भी अतिशयोक्ति ही होगा क्योंकि दुर्गा के लिए तो 'असम्भवा' कहा ही गया है इसमें आश्चर्य की क्या बात? मूर्ति में अष्टादशभुजाधात्री माँ दुर्गा हाथ में खप्पर, खड्ग, शङ्ख, चक्र, अधिकाधिक कङ्काल धारण किए हुये कङ्कालवेश में प्रदर्शित की गई हैं, जिन्हे देखते ही दुर्गाशप्तशती की परिकल्पना एवं महर्षि मार्कण्डेय की अवधारणा चरितार्थ हो उठती है[१]।

१- मधुकैटभ हन्त्री च चण्ड मुण्ड विनाशिनी।
सर्वासुर विनाशा च सर्व दानव घातिनी।।
सर्व शास्त्रमयी सत्या सर्वास्त्र धारिणी तथा
च धारिणी -दुर्गाशप्तशती पृष्ठ ११

इतना ही नहीं मूर्ति का जाज्वल्यमान तेज देखते ही अकस्मात वामन पुराण के अध्याय उन्नीस और बीस में वर्णित दुर्गा के प्रचण्ड रूप का परिज्ञान हो जाता है। दूसरी ओर भगवान् विष्णु की प्रतिमा है, जो काले पत्थर की अद्वितीय कलाकृति है। लगभग तीन फीट की ऊँची प्रतिमा के मध्य में विष्णु का सर्वाङ्ग सुन्दर स्वरूप विद्यमान है तथा अगल-बगल दशावतार का सुन्दर स्वरूपाङ्कन भी चतुर सङ्गतरास ने अत्यन्त ही चपलता के साथ किया है। 'दो जलचर दो वनचर चार विप्र दो राव' की वास्तविक दर्शनानुभूति मूर्ति के समक्ष आते ही हो जाती है। दशावतार का मनोहारी चित्रण रीतिकालीन कवि सुखदेवमिश्र द्वारा किए गये नायिका के उन्नत उरोज के वर्णन प्रसङ्ग मे दशावतार के आरोपित प्रतिमान को फलीभूत करता है[१]।

भगवान विष्णु की प्रतिमा खजुराहों के चन्देल शासक मदनवर्मन (११२६-६३ ई०) की शासनावधि में सृजित हरिहर प्रतिमा, जो पुरातत्व सग्रहालय खजुराहों के क्रमाङ्क ५५८ में अवस्थित है से काफी समानता रखती है। अन्तर सिर्फ इतना है कि यह प्रतिमा भगवान विष्णु की है और वह प्रतिमा हरिहर अर्थात् आधे में शङ्कर और आधे में विष्णु की है। शेष वही रूप है दशावतार का, किन्तु गणेश एवं कार्तिकेय की सहभागिता हरिहरमूर्ति को दूसरे कलेवर में निबद्ध करती है। जहाँ तक कला के प्रभाव का प्रश्न है वह दोनों मूर्तियों पर समान रूप में विद्यमान है। न किसी की भङ्गिमा में कोई कमी है और न किञ्चित भाव में।

कन्हरा से थोड़ी ही दूर दाक्षिणात्य परिक्षेत्र में विन्ध्य श्रृङ्खला के मध्य मुगलमारा नामक एक अत्यन्त ही लोमहर्षक दृष्यावली को सँजोए हुये दिव्यानुभूति कराने वाला स्थान है। मुगलमारा की दृष्यावली बाण के विन्ध्याटवी

१- मीन की बिछुरला कठोरताई कच्छप की,
हिये घात करिवे को कोल ते उदारहैं।
विरह विदारिवे को दली नरसिंह जू सों,
वामन सों छली बलिदाऊ अनुहारहैं।
द्विज सों अजीत बलबीर बलदेवही सों,
राम सों दयाल 'सुखदेव' या विचारहैं।
मौनता में बौध कामकला में कलंकीचाल,
प्यारी के उरोज ओज दसौ अवतारहैं।।

-शिवसिंह सरोज, पृष्ठ-...

वर्णन को जीवन्त करती है। गुफे से निकलती अविराम पतली जलधार किसी भी नवागन्तुक के लिए आश्चर्य का विषय होगी। गुफे के अन्दर प्रविष्ट होना भी सहज नहीं है। अनेक प्रयासों के पश्चात् भी सफलता कोसों दूरी बनाए ही रखती है[१]।

मुगलमारा का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर अब्धेश्वरदुर्ग और कौशाम्बी से सम्बन्ध रहा है। कौशाम्बी नरेश विवक्षु जो महाभारत युद्ध के पश्चात् प्रथम कौशाम्बी के शासक हुये, का इस क्षेत्र पर आधिपत्य रहा तत्पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र भूरि का शासन रहा। भूरि के शासन काल में शिवद्वार से दक्षिण वरदिया, पूर्व में महाँव एवं देवगढ़, पश्चिम में वर-कन्हरा, मुगलमारा का समस्त क्षेत्र पूर्ण रूप से विकसित था। उस समय की उन्नतावस्था के भग्नावशेष आज भी स्थान-स्थान पर विद्यमान हैं। भूरि के पश्चात् इस क्षेत्र पर कौशाम्बी के इक्कीस शासकों का शासन रहा, जिनकी नामावली क्रमशः चित्ररथ, शचिद्रव, वृष्णिमान, सुषेण, सुनीथ, नृचक्षु, सुखीवल, परिष्णव, सुतपा, मेधावी, पुरञ्जय, उर्व, तिग्मात्मा, वृहद्रथ, वसुदामा, शतानिक, उदयन, वहीनर, दण्डपाणि, निरिमित्र और क्षेमक के रूप में मत्स्य पुराण में प्राप्त होती है। इनका शासन काल अत्यन्त समृद्धि का द्योतक था। इनके शासनाधीन समस्त क्षेत्रों का अबाध गति से विकास हुआ। महाराज क्षेमक के पश्चात् इस वंश का सदा के लिए अन्त हो गया। मत्स्यपुराण में इस सम्बन्ध में उल्लिखित है[२]।

क्षेमक के पश्चात् इस क्षेत्र पर काशी का आधिपत्य स्थापित हो गया साथ ही सुख समृद्धि का शनैः शनैः विनाश होने लगा और पन्द्रहवीं शती

१- प्रच्छन्न दुर्ग है जिस दर पर मोगलमारा सुन्दर स्थल।
प्रतिध्वनियाँ शून्य क्षितिज में जा आतीं फेरा देतीं पल-पल।।
प्रतिदिन प्रतिपल है प्रवहमान निर्झरिणी की अविरल धारा।
पर चैत्र राम नवमी के दिन प्यासा रहता मोगलमारा।।
कोई न सफल हो सका कभी अन्तर्गृह तक जाने में।
इस दुर्ग ने क्या-क्या रखा है संचय कर निज तहखाने में।।
-शोणभद्राञ्चल, प्रथम-खण्ड।।३१-३३।।

२- अत्रानुवंशश्लोकोऽयं गीतो विप्रै पुरातनैः।
ब्रह्मक्षत्रस्य यो योनिर्वंशो देवर्षि सत्कृतः।
क्षेमक प्राप्य राजान कलौयुगे ५१ ८८

तक धीरे धीरे इसका अवशेष मात्र शेष रह गया जो आज भी हमारे बीच समय की रेखाओं को लाँघते हुये अपने अतीत के देदीप्यमान स्वरूप का स्मरण कर सम्प्रति दुर्भाग्य पर आँसू बहाने के लिए विवश है।

शनैः शनैः संस्कृतियों का विलोपन होता है। आवश्यकता यह होती है कि समय से पहले उसको संरक्षण प्रदान किया जाय। राजतंत्रीय व्यवस्थान्तर्गत इसका संरक्षण होता रहा है, किन्तु लोकतंत्रीय स्थिति होने के पश्चात् भी सरक्षण से परे हैं महत्त्वपूर्ण पर्यटन स्थल और ऐतिहासिक सुश्रोत। आवश्यकता है इनके महत्व को समय रहते पहॅचानने की, अन्यथा शनैः शनैः अवशेष भी विलुप्त हो जायेगा, जिससे आर्य संस्कृति, जो वेलन संस्कृति की सहगामिनी रही है, का सम्पूर्ण रूप से सोनभद्र से अन्त हो जायेगा और यह क्षति सोनभद्र की ही नहीं अपितु सम्पूर्ण सोनाञ्चल की क्षति होगी, जिसको निकट भविष्य मे पूर्ण कर पाना सम्भव न हो सकेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

शोण तटस्था शोणाक्षी भगवती कुण्डवासिनी

महाभाष्य, सू० ६।।३।।१०६ के अनुसार आर्यावर्त की दाक्षिणात्य सीमा का निर्धारण करता हुआ तथा मनुस्मृतिकार (मनु० २।। २१) की मान्यता को स्वीकार कर निजअञ्चल में मध्यप्रदेश का अवबोध एवं उसकी आस्मिता को अक्षुण्ण बनाये हुये विशाल विस्तृत विन्ध्य विजयगिरि उपत्यकाभिमण्डित सतत् प्रवहमान पञ्चपौराणिक कालिदासाभिवन्ध लेखनी स्वतस्पुरित ललाम पद्य भाव भाषा भूषित रम्याम्रकूट नामित नन्दन कानन अमरकण्टक निःसृत हिरण्यवाही शोण तटावस्थित 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' के प्रतीक विन्ध्याटवी वर्णनातुर रस रसज्ञ कान्यकुब्जाधिपति 'काव्येषु नाटक रम्यम्' की परिकल्पना को चरितार्थ करते हुये नित नवीन नाट्य 'नागानन्द' प्रणेता सम्राट हर्ष परिषद् भूषण कमनीय काम्य कादम्बरी सुषमाभरण महाकवि बाणभट्ट की प्रदीप्त कर्मभूमि सोनाञ्चल की उर्वराधरा सोनभद्र की महामाया जाज्वल्यमुखरा जगदम्बिका शोणाक्षी भगवती कुण्डवासिनी का दक्ष यज्ञ विध्वंसकारिणी दक्षजा सती अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रकीर्तिता महाशक्तिपीठों में प्रमुख स्थान है। महादेवी कुण्डवासिनी का प्राचीन मन्दिर सोनभद्र जनपद के प्राचीन राज्य अगोरी-बड़हर की क्षत्रपीद्वय चतरवार और देवगढ़ की सीमा को आरेखित कर रहे महानद-शोणभद्र के दक्षिण उपकूल पर अवस्थित है। महामाया के स्थान विशेष का नाम 'कुड़ारी' संज्ञाभिहित है[१]।

कुड़ारी, कुनवा अथवा कुण्डवा तथा भगवती कुण्डवासिनी के

१- नभग नगेश विन्ध्य गुरुकल्प कुम्भज से,
        अभिमत नत मुख श्रृङ्ग पसरावती।
  ललित ललाम अभिराम अटवीय छटा,
        सोन की धरा से सरमाई अमरावती।
  उत्तर प्रवहमान शोणित सुभद्र शोण,
        सहज शोणाक्षी बाण वाणी उमगावती।
  अस कुण्डवासिनी कुड़ारी में विराजैं नित,
        सौम्य नर कर कल कलित कलावती।। -शम्भुनाथ त्रिपाठी 'अंशुल'/सोन वैभव। ३५

तथा-

  तुम्हरो शुभ धाम ते उत्तर ओर बहै सोनभद्र कऽधार करारी।
  दक्षिण जङ्गल घोर जहाँ हर मास बसन्त बसै ललकारी।
  पश्चिम विप्र गोसाई बसैं तव स्तुति नित्य करैं जयकारी।
  पूरब नार बहै कुनवा एहि ते एहि ग्राम कऽ नाम कुड़ारी   प्रणीत

सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन लेना चाहते थे तत्कालीन सन्य पारावार का ज्वार भाटा अधोलिखित है-महाराज अज ने अपने पिता के मत्री को आज्ञा दी कि थोड़े से योद्धा लेकर इन्दुमती की रक्षा करो और स्वयं उस सेना को रोककर खड़े हो गये जैसे बाढ़ के दिनों में ऊँची तरङ्गों वाला महानद शोणभद्र भागीरथी गङ्गा की धारा को रोक लेता है[१]। इस सम्बन्ध में विन्ध्य प्रदेश के ख्याति लब्ध पुरातत्वविद् श्रीरामसागरशास्त्री ने लिखा है-'महाकवि कालिदास ने महाराज अज की सेना की तुलना महानद सोन के प्रवाह से की है। वस्तुतः ऊँचे पर्वतो से प्रवाहित होने वाले नदी-नदों का प्रवाह अति प्रबल होता है, वह भी सोन के प्रवाह के लिए क्या कहना? वर्षा ऋतु में बाढ़ के दिनों में सोन का प्रबल प्रवाह गगाजी की विशाल धारा को रोक देता है। यद्यपि गंगाजी का उद्गम देश के सबसे ऊँचे पर्वतराज हिमालय से हुआ है फिर भी सोनभद्र की फैली हुई वेगवती विशाल जल धारायें गंगाजी के प्रवाह को रोक देती हैं, क्योंकि गंगा-सोन-संगम में गंगाजी के दूने से अधिक सोन का पाट है। साथ ही पहाड़ी भूभाग मे प्रवाहित होने के कारण सोनभद्र की जलधारा अधिक प्रबल होती है। यही कारण है कि सोन के प्रबल प्रवाह की धाक है। अन्य नदी-नदों की अपेक्षा सोनमहानद का गौरवपूर्ण स्थान है[२]।'

महामाया कुण्डवासिनी के दिव्य धाम का तन्त्र साधना में महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन वर्दी-शाहपुर-राज्य के वर्तमान राजपौरोहित्य तन्त्र मार्तण्ड ज्योतिष-रत्नाकर पण्डित श्री भोलाप्रसादद्विवेदी ने कुड़ारी को केन्द्रस्थ मानकर 'श्री दुर्गाशप्तशती महायन्त्रम्' के षडपद्मपत्रों की अवस्थिति शिवद्वार, कड़िया, गौरीङ्कर, कण्डाकोट, गोठानी नामधेया तीर्थ स्थानों में स्वीकार करते हुये तद्यन्त्र की सफल साधना की। भगवती विन्ध्यवासिनी के त्रिलोक पावन धाम में तान्त्रिको ने लघुत्रिकोण तथा वृहत्त्रिकोण की परिकल्पना तो की है, परन्तु षडकोण की अवस्थिति कुड़ारी के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है, एतदर्थ भगवती कुण्डवासिनी और कुड़ारी का महत्व द्विगुणित हो जाता है। आश्चर्य का विषय है कि एक त्रिकोण कुड़ारी, कड़िया एवं कण्डाकोट के मध्य बनता है, जो ककार के साथ क्रमशः कुण्डवासिनी, कमलेश्वरी एवं गिरिजा अर्थात् शक्ति प्राधान्य पीठ की निवास स्थली होने के गौरव से अभिभूत है। दूसरा त्रिकोण शिवद्वार, गौरीशङ्कर एवं गोठानी के मध्य बनता है, जो शिव शक्ति पीठ के साक्षात् श्रीविग्रह के रूप

१- तस्याः स रक्षार्थ मनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः।
प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरङ्गः।। - रघुवंश ।।७।३३।।

२- विन्ध्य दर्शन, भाग एक, पृष्ठ-१३६

मे अधिष्ठित हैं। पण्डित भोलाप्रसाद द्विवेदी का अभिमत है कि कुण्डवासिनी धाम के पूर्व सेमिया-घोरिया के सन्निकट सोन का पुहकरिणी घाट पूर्वकाल में पुष्करिणी तीर्थ के रूप में विकसित था, यहाँ स्नान कर श्रद्धालु भक्त कुष्ट रोग से निदान प्राप्त किया करते थे। इसका समर्थन पण्डित रमाशंकर पाण्डेय 'विकल' ने भी किया है[१]। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पुष्करिणी में स्नान करने से कुष्ट रोग का शमन हो जाता है। शोणभद्र की जलधारा में विभिन्न प्रकार की दिव्यौषधियों का सम्मिश्रण होने के कारण शोण वारि सुपाच्य एवं स्वास्थ्य वर्द्धक होता है। इस सम्बन्ध में 'राजनिघण्टु' में उल्लिखित है कि शोण, घाघरा और बेत्रवती (वेतवा) का जल अनेक प्रकार से गुणकारी है। रुचिकर, संतापहारी, हितकर, अग्निवर्द्धक, बलदायक, कमजोर अङ्गों को मजबूत करने वाला, मधुर, कान्तिप्रद, पुष्टिकर, तुष्टिकर सुपाच्य एवं बलवर्द्धक होता है। इन तीनों की जलधारा में वनस्पतियों तथा विविध जड़ी-बूटियों के संमिश्रण से इनका जल गुणकारी हो गया है, उसके सेवन से लाभ प्राप्त होता है[२]।

महानद शोण के दिव्यमहौषधि संयुत आयोग्य प्रदाता जल का वर्णन करते हुये अगोरी-बड़हर नरेश श्रीमान् राजा शारदामहेशप्रसादसिंहशाहवहादुर जू देव के दरबारी राजकवि पण्डित श्रीरमानाथजी ने लिखा है-विद्वान श्री शोण के उस जल का पान करते हैं, जो स्वास्थ्यवर्द्धक तथा उन्नतिकारी है तथा दूर स्थित होने पर भी सावधानी-पुर्वक ध्यान करने पर पवित्र तथा मनोहर दुग्गत

१- सेमिया के ढिग यह तपः पूत
पुहकरिणी है अन्वर्थ प्रबल।
पुष्करिणी नाम पूर्ववर्ती
निर्मल जल तट की कीर्तिधवल।।
कुष्ट रोगियों के जत्थे आ
थे प्रहृष्ट मन करते मज्जन। - शोणभद्राञ्चल ।।१। १०६-११०।।
होते निश्चित निरोग सभी
करते थे धन्य-धन्य सज्जन।।

पुष्करिणी तीर्थ की इसी महत्ता को स्वीकार करते हुये अन्यत्रोल्लिखित है-
हिरण्यवाह का पवित्र घाट पुष्पकर्णिका
चिरायु का प्रसाद दे अघौघ मूल मर्दता।
निशाचरी प्रवृत्ति का विनाश बूँद-बूँद में
छिपी यहीं सुधामयी पुनीत औषधीश्वरी ।। - कुण्डवासिनी चरित ।।५०।।

२- शोणे घर्घरके जलं तु रुचिदं सन्तापशोषापहं,
पथ्यं वह्निकरं तथा च बलदं क्षीणाङ्ग पुष्टिप्रदम्।
तत्रान्या दधते जलं सुमधुरंकान्तिप्रदं पुष्टिदं,
तृप्यं दीपन पाचनं बलकरं बेत्रावती तापिनी।। -राजनिघण्टु

होता है

महामाया कुण्डवासिनी के ऐतिहासिक महत्व को स्वीकार करते हुये विद्वान् मनीषी इतिहास मर्मज्ञ वर्दी नरेश राजा त्र्यम्बकेशप्रतापबहादुरसिंह जू देव ने २१ सितम्बर १९९६ ई० को मुझे पत्र के माध्यम से विज्ञप्ति प्रदान की कि -''हाँ! एक पौराणिक शक्तिपीठ 'बनसरा देवी' हैं। इस बात को पाण्डेय जी को बताइयेगा। उस पुराण में लिखा है कि एक शक्तिपीठ शोणभद्र के मिला है, जो अमरकण्टक से गंगा मुहाने के बीच है। जो नदी के दक्षिणी सगम पर है। इसी पीठ का अघोरभद्र ने पता लगाया और पाँचवीं शती मे इसे पुरुषेश्वर से भी (घोररुद्र से भी) प्रतिष्ठित किया।'' इसी क्रम मे माननीय राजा साहब ने २५ नवम्बर १९९६ ई० को मेरे पूज्य पिताश्री बाबू महेन्द्रबहादुरसिंह के नाम अभिलिखित पत्र में लिखा है कि-''बनसरा शक्ति पीठ, जो गोठानी के पास है-द्वापर में एक तीर्थ था। फिर अघोर-काल मे कुण्डारिका हुआ। अघोर-काल में गुजरीवन का महत्व बढ़ा। ८४ में एक गुजरिनि अधिकारी रहती थी लगभग ५०० सं० में, उसने अघोर राजा के आदेश से कुड़ारी का मन्दिर बनवाया, जो बनसरा का स्थान ले लिया।''

पौराणिक पृष्ठभूमि पर कुण्डवासिनी का शोणाक्षी नाम से स्मरण किया गया है। डॉ० कपिलदेवसिंह जी ने 'इक्यावन शक्तिपीठ-जहाँ सती के अङ्ग गिरे' नामक लेख के शोण प्रसङ्ग में लिखा है- ''यहाँ सती का 'दक्षिण-निनम्ब' गिरा था। देवी यहाँ 'नर्मदा' अथवा 'शोणाक्षी' कहलाती हैं और शिव 'भद्रसेन'। कुछ लोग सासाराम की ताराचण्डी देवी को ही शोण तटस्था शक्ति मानते हैं। यद्यपि शोण अब कुछ दूर चला गया है[२]।''

यहाँ स्वयं डॉ० सिंह साहब सशंकित होकर शोण के दूर होने का

१- श्रीशोणवारीणि पिबन्ति विज्ञाः,
सुस्वास्थ्य कारीणि महोदयाये।
दूरस्थिताश्चापि कृतावधानाः,
पूतान्यनायासमनोहराणि।।
-संक्षिप्तागोरीबड़हरपरिचयश्चन्द्रान्वयश्च ।।१३।।

२ शक्ति उपासनाङ्क पृ० ३५७

सङ्केत करते हैं। शोण से ताराचण्डी मन्दिर की दूरी लगभग १०-११ किलोमीटर है, इस स्थिति में ताराचण्डी को शोणक्षी मानना नितान्त भ्रममूलक है। सती ने दक्ष से स्वयं कहा है कि मैं शोण सङ्गम पर सुभद्रा नाम से विख्यात् हूँ[१]।

शोणभद्र तटावस्थित तो होना ही चाहिये साथ-ही-साथ शोण का सङ्गम भी हो तभी शोणाक्षी अथवा सुभद्रा का यथार्थ मूल्याङ्कन सम्भव हो सकेगा। यहाँ उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है कि कुड़ारी से थोड़ी ही दूर पर शोणभद्र में विजुल और रेणु नामित नदियों का सङ्गम होता है, जहाँ शोणाक्षी के अर्धीश्वर भद्रसेन शिव शोभनाथ विद्यमान हैं। रेणु के सम्बन्ध मे श्री देवकुमार मिश्र ने लिखा है- 'रेणु का पुराना नाम 'अरण्या' था। बदलकर रेड़ हो गया है कुछ लोग रिहण्द भी कहते हैं[२]।' स्कन्द पुराण में रेणु नामक नदी का वर्णन किया गया है। कलियुग में रेणु (रेण) नामक नदी का स्मरण करने से जन्मजन्मान्तर के पाप नष्ट हो जाते हैं। दर्शन करने से तीन जन्मों का पाप नष्ट हो जाता है और स्नान करने से हजार जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं[३]। शोण, रेणु, विजुल सङ्गम सन्दर्भित काशीत्रयीकार स्व० डॉ० शिवप्रसादसिंह जी की चपल लेखनी से अविर्भूत अधोलिखित उद्धरण उल्लेखनीय है- 'काशी की आरण्यक श्रेणी की अग्रपुरी (अगोरी) प्रमुख केन्द्र थी। अविजेय दुर्ग तो था ही। वह शोण, रेणु, गपत आदि पवित्र नदियों के पावन सङ्गम पर बसा होने के कारण त्रिवेणी की तरह पूजा जाता था[४]।' सङ्गम के साथ ही साथ यहाँ यह भी उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है कि गोष्ठानी में शैव और शाक्त, कुचिला और विल्व तथा राग और भोग का शाश्वत सम्पृक्त स्वरूप विद्यमान है, जो कविकुलकल्पतरु कालिदास द्वारा रघुवंशमहाकाव्यम् के मङ्गलाचरण में की गई शिवशक्ति वन्दना को चरितार्थ करता है[५]।

१- मत्स्यपुराण ।।१।१३।४५।।

२- सोन के पानी का रंग, पृष्ठ-६२

३- स्मरणात् जन्मजं पाप, दर्शनेन त्रिजन्मजम्।
स्नात्वा जन्म सहस्त्राणां हन्ति रेणु कलौयुगे।। -स्कन्दपुराण, काशी खण्ड

४- नीला चाँद, पृष्ठ-२६१

५- वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।। -रघुवंश ।।१।१।।

महामाया कुण्डवासिनी के त्रिलोकाभिवन्द्य पावनधाम की सुरम्य मंदिन तरिया चौरासी एवं पुराअघोरपीठ की संज्ञा से अभिहित है। पुराअघोरपीठ की पौराणिक महत्ता को स्वीकार करते हुये वयोवृद्ध साहित्यकार पण्डित रामजी पाण्डेय 'विमल' ने लिखा है- "सुरम्य वन-घाटियों का एलबम सोनभद्र का आवरण पृष्ठ अपनी एक विशिष्ट पौराणिकता सँजोए हुये है। पुराकाल में दक्ष प्रजापति की यज्ञशाला छानवे क्षेत्र (मीरजापुर) में पार्वती के दग्ध शरीर को लेकर भगवान् शिव ने ताण्डव नृत्य किया था जिसके परिणाम स्वरूप सती शरीर के अङ्ग अनेक स्थानों पर गिरे जो सिद्धपीठ कहे गये। वहाँ से क्षुब्ध व कुपित, विक्षिप्त भगवान् शिव दक्षिणाञ्चल में प्रवेश किये प्रवेश द्वार (आधुनिक शिवद्वार) और पर्वत मालाओं को लाँघते हुये अघोर क्षेत्र (आधुनिक अगोरी क्षेत्र) में प्रवेश किए, चोपन के निकट अगोरी की पहाड़ियो में भगवान् शिव ने अज्ञातवास किया[१]।"

आद्यात्रिनेत्री त्रिपुरेश्वरी कुण्डसमुद्भवा महनीय शक्ति सम्पन्न प्रभूत प्रभा प्राह्लादित महामाया कुण्डवासिनी की लोककथा सहृदय भक्त-जनों की सुदृढ़ आस्था एवं धराधरेन्द्र सदृश विश्वास की प्रतीक तथा भगवती के आदि शक्तिपीठ और महत् महिमा की साक्षी है। लोककथा कुण्डवासिनी के साक्षात् विग्रहकल्प के समान समादरणीय है। लौकिक आस्था है कि कुड़ारी में ब्रह्माजी ने तप किया था, जिसके परिणाम स्वरूप प्रसन्न होकर महामाया ने प्रजापति ब्रह्मा को अपने दर्शन लाभ से कृतार्थ किया। ब्रह्मा के यज्ञ कुण्ड से कुण्डवा नामित अन्तः सलिला का उद्गम हुआ, जो गङ्गा और यमुना के समान पवित्र है[२]।

काव्य चमत्कार, शब्द संगुम्फन, अर्थ गाम्भीर्य, अलङ्कार सौष्ठव, रस परिपाक की दृष्टि से महामाया के उद्दाम अनन्त अपरिमित अतुलित अनिन्द्य

१- सोनाञ्चल, चतुर्थ पुष्प, पृष्ठ - १५७-५८

२- दृढ़व्रती विरञ्चि के अपूर्व याग कुण्ड से
प्रशस्त हो चली सुनीर 'कुण्डवा' सुधार जो।
सुधा समान पेय नेह नीर से भरी हुई
सुगङ्ग औ कलिन्दजा समा सदा पुनीत है।। -कुण्डवासिनी चरित ।।२५।।

अनाद्य स्वरूप को संक्षिप्त कलेवर मे सन्निहित किये हुये सरस पञ्चचामरवृत्तानुवद्ध कुण्डवासिनी चरित में कुण्डवासिनी महामाया की वर्णित स्वरूप-सुधा-तरङ्गिणी सुहृदजनों को आह्लादित कर माता के परमपरापरारविन्द युग चरण में ध्यानस्थ कर सकने में नितान्त सक्षम प्रतीत होती है[१]।

ऋत्विज ब्रह्मा ने तपश्चर्योपरान्तायोज्याध्वर की पूर्णाहुति की मङ्गलमयी बेला में पुराअघोरपीठ के ब्राह्मणों को आमंत्रित कर सुदिव्य सुपाच्य सुस्वादु व्यञ्जन एवं आकल्प वीर्य वर्द्धक हिरण्यवाही पुष्पकर्णिका (पुहुकरणी) जल का भोग लगाकर सुतृप्त किया। ब्रह्मा की आज्ञानुसार धनाध्यक्ष वैश्रवण भण्डारा के कोठारी पद की गौरवान्वित गरिमा का संवहन करते हुये मख की पूर्णाहुति बेला तक जिस अधित्यका को अपनी निवास-स्थली के रूप में प्रयुक्त किया उसे अद्यतन 'कुबेरवा' संज्ञा से अभिहित किया गया है[२]।

१- कलाप केश पाश में मुखाकृति प्रदीप्त ज्यों
मयङ्क अर्द्ध हो घिरा नवीन मेघ जाल में।
त्रिनेत्र तेज था महा त्रिअग्नि पुञ्ज से खरा
अशेष कण्ठ की प्रभा मनोज कम्बु कान्ति-सी।।
समुच्च पीन वक्ष – दुर्ग अस्त्र से लसी हुई
भुजा-पुराण शोभती विचित्र यन्त्र के समा।
त्रिपंक्ति की तरङ्गिणी निसेनिका सुस्वर्ग की
प्रवाह रोम-राशि ज्यो सरोज पे द्विरेफ हो।।
लतालबालकेन रोम-राजि मेखला कला
समुज्वला सुमौक्ति गङ्ग ज्यों मिली कलिन्दजा।
कि क्षीर सिन्धु मध्य मन्थिका बनी नगावली
लसी हुई सुरज्जु ज्यों मणिप्रभा फणीन्द्र से।।
ललाम पाद की छटा नवारबिन्द के समा
सुलोहिताङ्गुलिप्रभा प्रसून पल्लवादि-सी।
कि रत्न-श्रृङ्खला विभूषिता नखाग्र पाद ज्यों
नखत् सुमाल दीप्त चन्द्रिका कलान्तरिक्ष हो।।
समस्त रूप-राशि की करूँ क्वचिद् विवेचना
सुराङ्गना समूह-सिन्धु ज्यों मथा अनङ्ग ने।
ततः स्वरूप की कढ़ी त्रिवेणिका सुषोडशी
विकल्प रज्ज ज्यों समक्ष दीप के दिनेश हों।। -कुण्डवासिनी चरित ।।२१-२५।।

२- कुबेरपीठ है बनी कुबेरवा अधित्यका
विरञ्चि अध्वरीय चिन्ह शेष जो अशेष-सा।
शिला सभी सुरत्न-सी लसी हुई अनादि-सी
सुतृप्ति पा रहा सदा सुभक्त चित्त-सिन्धु है।। -वहीं।।५१।।

ब्रह्मा के यज्ञोपरान्त अनन्त काल तक महामाया कुण्डवासिनी प्रकाश स्वरूप ब्रह्मकुण्ड में निवास करती रहीं, भक्तजनों के दारुण कष्ट का शमन करती रहीं। एकदा महामाया ने अगोरी नरेश को स्वप्न दिया कि मैं कुण्डवा नाले के अन्तः कुण्ड में अधिष्ठित हूँ मुझे कुण्ड से निकाल गजराज पर आरूढ़ करवा वारुणी दिशा की ओर ले चलो। जहाँ हमारे भार से व्याकुल होकर मदान्ध नाग बैठ जाय वहीं हमारे भव्य प्रासाद का निर्माण करवा दो इसी में तुम्हारा और तुम्हारे साम्राज्य का स्वर्ण-काल सन्निहित है।

भूपेन्द्र ने वैसा ही किया। प्रतीचि में उन्हें विरञ्चि का यज्ञ कुण्ड मिला, जिसमें महामाया ज्योतिवाही रूप में निवास कर रही थीं। कुण्ड की शाश्वत प्राकृतिक रमणीयता एवं अलौकिक दिव्यानुभूति का वर्णन वाणी के परे प्रतीत होता है अथवा 'प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणौ बभूवेति' की संज्ञा से अभिहित बाण ही उसे वर्णित कर सकते हैं। कुण्डवासिनी चरित में वर्णित है कि स्वच्छ नीर से भरा हुआ वहीं अर्थात् प्रतीचि में एक विशुद्ध कुण्ड दृष्टिगोचर हुआ, जिसे विरञ्चि ने स्वयं अपने पद्मपाणि से रचा था। प्रकृति के अङ्क में नीर संयुत कुण्ड की अनुपमेय छटा उसी प्रकार उद्दीप्त हो रही थी जैसे कोई सर्व गुण सम्पन्ना सुराङ्गना सुधा से भरा सुन्दर कुम्भ लेकर खड़ी हो[१]।

कुण्डवासिनी भगवती के अनन्त सौख्य प्रदान कर्ता अभिवन्द्य पावनधाम में वासन्तिक नवरात्र से लेकर आषाढ़ तक प्राचीनकाल से अद्यावधि परम्परित रूप से मेला लगता है। अपार जन-सम्मर्द के मध्य गुञ्जरित आह्लादिनी जयध्वनि विन्ध्य-वीथियों को जहाँ पवित्र करती है वहीं शोण-वीचियों से टकराती कुसुमपुर की यात्रा पूर्ण करती हुई गङ्गा के माध्यम से गङ्गासागरस्थ कपिलमुनि के चिरन्तन हृदय में विलीन हो जाती है।

महामाया कुण्डवासिनी के धाम विन्ध्यक्षेत्र विन्ध्याटवी में निवास करने वाली चाण्डाल कन्या अपनी सर्वाङ्ग सुन्दरता की पराकाष्ठा को प्राप्त

१- सुनीर से भरा वहीं विशुद्ध कुण्ड है दिखा
विरञ्चि ने रचा जिसे स्वयं करारविन्द से।
निसर्ग में छटा अनूप नीर युक्त कुण्ड ज्यों
सुराङ्गना लिए खडी सुधा भरा सुकुम्भ हो।। --कुण्डवासिनी चरित ।।८८।।

कर क्रुद्ध हुए शङ्कर के अग्नि स नलते हुय कामदव के धुए स मन्लिन रति क समान, मदमत्त बलभद्र के हल से खींची जाने के भय से भागी यमुना तथा अत्यन्त घने पिण्ड बने महावर की लालिमा से किसलय सदृश लगते चरण-कमल जो तत्काल कुचले गये महिषासुर के शोणित से लाल चरणों वाली दुर्गा जैसी प्रतीत होती है[१]।

विचार करने की आवश्यकता है कि जहाँ की चाण्डालवंशोद्भवा परित्यक्तास्पृश्य जाति की कन्या कात्यायनी की समता बाण की वाणी के अनुसार कर सकती है वहाँ की अधिष्ठात्री त्रिपुरसुन्दरी अम्भोजाक्षी भगवती कुण्डवासिनी की अनुपमेय सुषमा की उपमा ब्रह्माशोद्भूत मनु शतरूपा की सृष्टि में कहाँ सम्भव हो सकेगी और महामाया की अपरिमित महिमा का बखान कौन कर सकता है? जहाँ पहुँच कर शब्द स्वयं मौन हो जाते हैं अथवा नि शब्द स्वयं मुखरित हो जाते हैं और जिसकी माया दीन की करुण चित्कार के रूप में आदिकवि को श्लोक रचना के लिए स्वयमेव आतुर एवं विवश कर देती है उस आद्या भगवती सरस्वती को महर्षि दुर्वासा के शाप से पृथ्वी पर शोणनद के तट पर एक लतामण्डप में अपना निवास स्थान बनाकर शोण में नित्य स्नान एवं देवार्चन करते हुए च्यवन ऋषि के पुत्र दधीचि को पति रूप में वरण करना पड़ा उसी के वंश में उद्भूत महाकवि बाणभट्ट की वाणी[२] में स्वर मिलाते हुये मैं माता के कल्याणप्रद स्वरूप का स्मरण कर उसके ललित ललाम श्रीचरणों में अपनी सश्रद्ध प्रणति निवेदन के साथ अपनी वाणी को विराम देता हूँ।

❖❖

१- कुपित-हर-हुताशन-दह्यमान-मदन-धूम-मलिनी कृतामिव रतिम्,
उन्मद-हलि-हलकर्षण-भय-पलायितामिव कालिन्दीम्,
अतिबहल-पिण्डालक्तक-रस-राग-पल्लवित-पादपङ्कजामचिर-मृदित-महिषासुर-रुधिर-रक्तचरणामिव-कात्यायनीम्। -कादम्बरी, पृष्ठ-८२-८३

२- विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुत त्यक्त वैरेकुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुप पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी।। -चण्डीशतकम् ।।६६।।

मुक्खादरी : एक लोमहर्षक दृष्यावली

सोनाञ्चल की शोण यात्रा के प्रसङ्ग में अपनी स्वतन्त्र अस्मिता को सजीव रखने वाले जनपद सोनभद्र के विजयगढ़ रियासत से उद्भूत अन्तः सलिला बेलन भारत के मध्य अनेक संस्कृतियों का संवहन करती हुई घोरावल और शिवद्वार के मध्य से प्रवाहित होती हुई प्रयाग की तमसा (टौंस) नदी का वरण करती हुई उसी में विलीन हो जाती है। इसी बीच में कूदती-फाँदती विन्ध्योपत्यका को चीरती हुई बेलन मुक्खादरी को आत्मसात करती है। जहाँ एक ओर फैली नैसर्गिक सुषमा एवं अपार वन-सम्पदा दर्शनार्थियों को आकर्षित करती हैं, वहीं चट्टानों पर अङ्कित चित्रों के सहारे इतिहास की तह खोलने में सहायता प्राप्त होती है। बेलन संस्कृति भारत में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसी सलिला के तटवर्ती क्षेत्र से कला का इतिहास प्रारम्भ होता है। डॉ० रमानाथ मिश्र, डॉ० सुस्मिता पाण्डेय, डॉ० लक्ष्मीनारायण भावसार का कथन है कि 'बेलन घाटी उत्तर प्रदेश में हड्डी की बनी उच्च पुरा पाषाण कालीन (१७०००-८००० ईसा पूर्व) दो मानव आकृतियों के साथ भारतीय मूर्तिकला का इतिहास प्रारम्भ होता है[१]।'

विचार करने की आवश्यकता है कि जब बेलन संस्कृति से ही भारतीय मूर्तिकला का इतिहास प्रारम्भ होता है तब तो बेलन सोनभद्र की तनया सदृश ही है। अर्थात् मूर्तिकला और सोनभद्र का सम्बन्ध अनादि काल से ही चोली दामन के समान है।

कैमूर का एक सिलसिला उत्तर की ओर अग्रसर होता हुआ मुक्खा मे बेलन धारा को अङ्कमालिनी बना उत्साह से झूम उठता है। मुक्खा की नैसर्गिकता सर्वत्र दुर्लभ-सी प्रतीत होती है। जहाँ सैकड़ों फीट की गहराई मे झर-झर निनाद करती बेलन की अच्छ स्वच्छ धारा प्रविष्ट होती है, वही मानव की आदिम सभ्यता के पद चिन्ह भी यत्र-तत्र स्वयं ही स्फुरित-से दिखाई पड़ते हैं। मुक्खादरी बेलन-धारा के तीव्रतर प्रवाह से नहीं अपितु शिल्पकारों की प्रखर नुकीली टाँकियों द्वारा सृजित है। मुक्खा के उत्तर कड़िया अट्ठाइस का वृहद् तड़ाग और मुक्खा के समीप दक्षिणावर्ती ध्वस्त

१- भारत की सांस्कृतिक विरासत, पृष्ठ-७५

'शिकारगाह का खण्डहर यह प्रमाणित करता ह कि कभी दरी स हा पत्थर' को तरास-तरास कर इन दोनों का निर्माण सम्भव हो सका है। पत्थर इतनी अधिक मात्रा में तरास कर निकाले गये कि हजारों फीट गहरी खाई प्रकृति के अङ्क में विद्यमान हो गई। कालान्तर में बेलन का जन्म इस खाई को सार्थक कर गया। वीरान रूप में पड़े खण्डहर और भयावह खाई प्रकृति का श्रृङ्गार करने लगी। प्रकृति की लावण्यमयी अद्वितीय छटा अपने उत्कर्ष पर आकर सार्वभौमिक हो गई। वह स्थान जो कभी चामुण्डा मन्दिर, शिकारगाह और कमलेश्वरीदेवी के नाम से जाना जाता था वह आज अपनी स्वतन्त्र अस्मिता के कारण जनपद में ही नहीं अपितु उत्तरी भारत में मुक्खा दरी के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। मुक्खादरी की यही सुन्दरता अगोरी-बड़हर नरेश श्रीमान् राजा शारदामहेशप्रसादसिंहशाहबहादुर जू देव के दरबारी विद्वान् कवि पण्डित रमानाथ जी को भाव विह्वल-सी कर गई और वे क्रौञ्च वध के समय आदि कवि के मुख से अनायास ही स्फुरित हुई पंक्तियों के समान सहज ही बोल उठे ---------तेन सिद्धि प्रदोषा दरी सुन्दरी[१]।

शिकारगाह के ठीक उत्तर गह्वरावस्थित शैलाश्रित गुहाचित्रों की अपनी एक अद्वितीय सुषमा किसी भी शैलानी को मदमस्त कर इतिहास के पृष्ठों को पलटने के लिए उत्प्रेरित कर सकने में स्वयं सक्षम-सी प्रतीत होती है। कुछ चित्र तो इस भाँति करीने से अङ्कित किए गये हैं जिससे यह आभास होता है कि ये प्राचीनतम् लिपियों की ही भाँति चित्रलिपि हैं, किन्तु कुछ सामान्य चित्र भी उसमें हैं जो लोक रीति से सम्बद्ध हैं। स्थानीय भाषा में कोहबर के रूप में ख्यातिलब्ध ये चित्र घर-घर में पूजित 'बड़े-बाबा' की लोमहर्षक घटना को अपने मौन मूक रेखाङ्कनों के द्वारा व्यक्त करते-से जान पड़ते हैं। वहीं दूसरी ओर बेलन-धारा की कल-कल करती लहरियाँ एक गड्ढे से होकर उतराती हुई आगे बढ जाती हैं, जो स्पष्ट रूप से बताती हैं कि प्राचीन काल में आदिम मानव ने

१- तत्र मुक्खाभिधा वर्तते या दरी,
वारिभिः शारदेन्दु प्रभाशालिनी।
सम्पतद्भिस्ततः शब्दवद्भिः स्थिता,
दूर देशेऽपि तस्या न सन्तुल्यता।।
ये जना यान्ति यादृक् सुखाभीप्सया,
योगिनो याजिनो दर्शिनो वा सदा।
ते लभन्ते च तादृक् सुखं तत्र वै,
तेन सिद्धि प्रदोषा दरी सुन्दरी।। -संक्षिप्तागोरी० ३४-३५।

अपने प्रथम नेत्र खोल इसी अङ्क मे शरणागत रूप मे जीवन व्यतात किया आर अपनी सस्कृति का प्रचार प्रसार किया, जो आज भी इतिहास मे वलन-सस्कृति के नाम से अपना अलग अध्याय प्रस्तुत करती है।

मुक्खादरी और पासवर्ती क्षेत्रों में बसे कोल किरातों का यहाँ सर्वप्रथम शासन रहा, जिसके आज भी पर्याप्त प्रमाण प्राप्त होते हैं। इनकी संस्कृति वेलन घाटी में इस प्रकार रच-बस गई है कि इनके सामने अभिजात्य वर्ग, जो कालान्तर में इस गुहाञ्चल में प्रविष्ट हुआ, की संस्कृति, संस्कृति न होकर सभ्यता-सी महसूस होती है। आदिवासियों के ग्राम्य-गीत बेलन की छप-छप करती कूदती-फाँदती मुक्खा दरी की अङ्कमालिनी कल-कल उर्मियों से स्वर मिलाते हैं। मुक्खादरी के तटवर्ती दक्षिण भाग में अवस्थित चामुण्डा मन्दिर मकर संक्रान्ति और शारदीय-बासन्तिक नवरात्र के अवसर पर जन-सम्मर्द एकत्रित करने में अपने प्रवल दैवी गुण का संवहन करता है वहीं दरी की अभिराम लोमहर्षक दृष्यावली स्वयमेव पर्यटन कर्ताओं को आकर्षित करती है।

प्रकृति ने अपने सुन्दर हाथों से मानव को आज की वैज्ञानिक भाग-दौड़ की आपा-धापी में किञ्चित सुखानुभूति प्रदान करने के उद्देश्य से ऐसे सुन्दर पर्यटन का निर्माण किया है। अब आवश्यकता है कि मनु-पुत्र स्वयं ही उसे सवाँर कर अन्यतम सुन्दरी की भाँति स्थापित करे। शिलाखण्डों पर चित्रों की अवली और प्रकृति की रूपाभा सार्वभौमिक हो चिरन्तन रूप में सृष्टि का श्रृङ्गार करे इसी में मुक्खादरी की सार्थकता और मानव का सनातन सत्य निहित है। महाकवि प्रसाद की पँक्तियाँ इस सन्दर्भ में सार्थक प्रतीत होती हैं। प्रकृति एक पल भी पुरातनता का निर्मोक सहन नहीं करती। परिवर्तन में ही नित्य नव्यता का आनन्द सन्निहित है। युग की चट्टानों पर सृष्टि अपने गम्भीर पद-चिन्ह को डाल चली जाती है, जिसका अनुसरण अधीरता पुर्वक देव, गन्धर्व एवं असुरावली करती हैं[१-]।

१- पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक।
नित्य नूतनता का आनन्द
किए है परिवर्तन में टेक।।
युगों की चट्टानों पर सृष्टि
डाल पद-चिह्न चली गम्भीर।
देव, गन्धर्व असुर की पंक्ति
अनुसरण करती उसे अधीर।। -कमायनी ।।३।४७-४८।।

सोनभद्र की मूर्तिकला

शोण और नर्मदा के अलग होने के स्थान में जो वंशगुल्म के मध्य आश्रय प्राप्त करता है, वह वाजपेय नामित यज्ञ के परम पुण्य का सर्वथा अधिकारी होता है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के पुत्र हे शोणभद्र! तुम्हें सादर प्रणति है, पर्वत श्रेष्ठ मेकल से समुद्भूत हे सोनभद्र! तुम्हें प्रणाम है। सम्पूर्ण पापों का हरण करने वाले महान् नद! तुम्हें प्रणाम है[1]। जिस महानद शोणभद्र की इतनी महत् महनीय महिमा है उसी महानद को जिस शस्य श्यामला सुमती बसुमती बसुन्धरा ने सहर्ष अपने विशाल विस्तृत वक्ष पर शाश्वत कण्ठहार सदृश धारण किया है उसके महात्म्य का क्या कहना? अमरकण्टक से पाटलिपुत्र के यात्रा प्रसंग में शोणभद्र उत्तर प्रदेश के दक्षिणी भूभाग को गौरवान्वित करता है। सम्प्रति सोन प्रवाह की सार्थकता उस समय स्वयमेव सिद्ध हुई जब मीरजापुर का यह भाग ४ मार्च १९८९ ई० को सोनभद्र संज्ञा से अभिमण्डित होकर एक नये जनपद के रूप में उत्तर प्रदेश के मानचित्र में अङ्कित हुआ। इस जनपद की अपनी पहचान आनादि-काल से ही रही है, जिसकी किञ्चित झलक अद्यतन दृष्टिगोचर होती है। प्रारम्भ में प्रतिष्ठानपुर, कौशाम्बी तथा काशी से इस क्षेत्र पर शासन होता रहा तदुपरान्त सुदीर्घ काल तक अर्थात् शिशुनागवंश से लेकर गुप्तकाल तक यह सम्पूर्ण परिक्षेत्र मगध के अन्तर्गत रहा। अस्तु जिस प्रकार केन्द्रस्थ नगरीय संस्कृति का विकास और ह्रास होता रहा उसी प्रकार इस आटविक क्षेत्र को भी उत्थान और पतन के मध्य अपनी यात्रा तय करनी पड़ी।

आधुनिक सोनभद्र जनपद, जो पूर्व-काल में अगोरी-बड़हर-राज्य के नाम से जाना जाता था, का प्राचीन भारतीय केन्द्रीय राज सत्ता में भले ही महत्त्वपूर्ण स्थान न रहा हो तथापि भारतीय मूर्तिकला के इतिहास में इसकी

१- शोणस्य नर्मदायाश्च प्रभेदे कुरुनन्दन।
वंशगुल्ममुपाश्रित्य वाजपेय फलं लभेत्।।
नमस्ते ब्रह्मपुत्राय शोणभद्राय ते नमः।
मेकलोद्भवाय वृहते सर्वपापहराय च।।

-अग्निपुराण, अ० ३७

भूमिका कला-जननी के रूप मे चिरस्मरणीय है इस सम्बन्ध में डॉ० र [illegible]
मिश्र, डॉ० लक्ष्मीनारायाण भावसार, डॉ० सुस्मिता पाण्डे का अभिकथन सर्वथा स्तुत्य और समीचीन प्रतीत होता है- 'बेलन घाटी उत्तर-प्रदेश में हड्डी की बनी उच्चपुरापाषाण कालीन (१७०००-८००० ईसा पूर्व) दो मानव आकृतियों के साथ भारतीय मूर्तिकला का इतिहास प्रारम्भ होता है[१]।' विचार करने की आवश्यकता है कि जब बेलन संस्कृति से ही भारतीय मूर्तिकला का इतिहास प्रारम्भ होता है तब तो बेलन सोनभद्र की तनया सदृश ही है। अर्थात् मूर्तिकला के जन्मस्थली की जन्मस्थली सोनभद्र है। तात्पर्य यह है कि मूर्तिकला का ननिहाल ही सोनभद्र है अथवा आदिम उद्‌भव ही।

सोनभद्र की मूर्तिकला के प्रमुख केन्द्र शिवद्वार, सतद्वारी, बर-कन्हरा, बरदिया, खजुरी, महँाव, देवगढ़, गोठानी, अगोरी, कुड़ारी, मड़रा तथा गौरीशङ्कर हैं। इनमें बाहुल्य देवगढ़ से लेकर शिवद्वार तक है। इस क्षेत्र की अधिकांश मूर्तियाँ सन् ६१० ई० से लेकर सन् १०३५ ई० के मध्य की बनी हुई हैं। इस काल-खण्ड में यह सम्पूर्ण परिक्षेत्र चन्देल साम्राज्य की सीमा के मध्य अवस्थित था। यही समय चन्देल सत्ता का स्वर्ण अथवा सर्वोत्कर्ष काल था। खजुराहो, महोबा, अजयगढ़, कालिञ्जर तथा देवगढ़ (ललितपुर) की समस्त मूर्तियाँ (मात्र दशावतार मन्दिर को छोड़कर) इसी काल-खण्ड की देन हैं। मध्यकाल में भारतीय मूर्तिकला पर क्षेत्रीय शक्तियों का भरपूर प्रभाव पड़ा। सम्राट् हर्षवर्द्धन के पश्चात् भारत की विखण्डित एकता को कन्नौज के प्रतिहार शासकों ने राजनैतिक एकता के सूत्र में बाँधने का उपक्रम किया, तथापि परवर्ती निर्बल शासकों के द्वारा इस एकता का निर्वहन निर्वाध गति से न हो सका। परिणामस्वरूप चन्देल शासक उत्तरी भारत में एक बड़ी शक्ति के रूप में उभरकर तत्कालीन राजनैतिक-क्षितिज पर उदित हुये। चन्देल शासकों में सम्राट् हर्षदेव (६१०-३०) से लेकर सम्राट् विद्याधरदेव (१०२५-१०३५ ई०) तक का काल चन्देल सत्ता का सर्वोत्कर्ष काल था। हर्षदेव के पुत्र सम्राट् यशोवर्मन की यशस्चन्द्रिका के गीत एक स्वर से राजप्रासादों में, ऋषि मुनियों के आश्रमों में, सज्जनों के एकत्रित होने पर,

१- डॉ० उमराव सिंह चौधरी : भारत की सांस्कृतिक विरासत, पृष्ठ-७५

गावों मे छोटे छोटे व्यक्तियो के मध्य वणिको की वीशिया म चापालो रथ्याओं तथा वनवासियों के घरों में अर्थात् सभी ओर सभी लोग सभी स्थानों में सर्वदा विस्मय पूर्वक गाते हैं[1]। यशोवर्मन् के पुत्र पृथ्वीपति श्री धङ्गदेव एवम् पौत्र गण्डदेव की उत्तरोत्तर बलवती होती साम्राज्यवादी भावना एक वृहद् राज्य-निर्माण करने में सहायक सिद्ध हुई। खजुराहो में अवस्थित लक्ष्मणनाथ मन्दिर से प्राप्त सम्राट् धङ्गदेव के विक्रमी सम्वत् १०११ में विरचित प्रथम शिलालेख से ज्ञात होता है कि युवराज से सम्राट् पद पर अभिषिक्त होने तक चन्देल सत्ता किन-किन स्थानों पर व्याप्त थी। तदनुसार आपका साम्राज्य आकालञ्जर मालवा नदी के तट पर अवस्थित भास्वत तक, वहाँ से कालिन्दी (यमुना) नदी के किनारे तक, वहाँ से चेदिदेश की सीमाओं तक वहाँ से गोपाद्रि गिरि तक प्रसृत था[2]।

सम्राट् श्री धङ्गदेव जितने अप्रतिम वीर एवं प्रजापालक योग्य शासक थे उतने ही बड़े धर्म-सहिष्णु भी थे। इस सन्दर्भ में एक आख्यायिका प्रचलित है कि पृथ्वीपति श्री धङ्गदेव ने सौ वर्ष की आयु पूर्ण करने के पश्चात् प्रयाग में गङ्गा-यमुना-सङ्गम के मध्य भगवान् रुद्र का हृदय में ध्यान करते हुये जल-समाधि ली थी[3]। सम्राट् गण्डदेव की साम्राज्य सीमा अनेक राज्यों के मानचित्रों का हनन करती हुई पश्चिम में परमार राज्य मालवा से लेकर पूर्व में गौड़ तक तथा उत्तर में यमीनी तुर्क राज्य राजापुरी (राजौरी) से दक्षिण में दक्षिण कोशल रायपुर, सम्बलपुर तक प्रसृत थी। सम्राट् विद्याधरदेव जैसा दूसरा प्रतापी शासक

१- आस्थानेसु महीभुजां मुनिजनस्थाने सतां सङ्गमे-
ग्रामे पामरभण्डलीषु वणिजां वीथी पथे चत्वरे।
अध्वन्यध्वगसं कथासु निलयेऽरण्यौकसां विस्मया-
न्नित्यं तद्गुणकीर्त्तनैकमुखराः सर्वत्र सर्वे जनाः।। -एपिग्रैफिकाइण्डिका।।१।१३३।४०।।

२- आकालञ्जरमाचमालवनदीतीरोस्थिते भास्वतः
कालिन्दीसरितस्तटादितइतोप्या चेदिदेशावधेः।
आतस्मादपिविस्मयैकनिलयाद् गोपाभिधानाद्गिरे
र्यश्शास्ति क्षितिमायतोर्ज्जितभुजव्यापारलीलार्जिताम्।। -वहीं ।।१।१२६।१३४।।

३- रक्षित्वा क्षितिमम्बुराशि रशनमिता मनन्यायतिं
जीवित्वा शरदा शतं समधिकं श्रीधङ्गपृथिवीपतिः।
रुद्रं मुद्रित लोचनं स्वहृदये ध्यायन् जपन जाह्नवी
कालिन्द्याः सलिले कलेवर परित्यागादगान्निर्वृत्तिम्।। -वहीं।।१।१४६।।

सम्पूर्ण राजपूत काल मे नही हे कलचुरि नरेश गाङ्गेयदेव विक्रमादित्य (१०१५ १०४० ई०) तथा परमार नरेश भोजराज (१०१०-१०५५ ई०) કાલઞરાધ राजराजेश्वर परमभट्टार्क सत्तम चक्रवर्ती सम्राट् विद्याधरदेव की वैसे ही पूजा करते थे, जैसे कोई शिष्य अपने गुरु की करता है[1]।

विद्याधरदेव एवम् महमूद गजनवी के सामरिक सम्बन्ध के सन्दर्भ मे प्रो० विशुद्धानन्द पाठक ने लिखा है-'विद्याधर चन्देल राजगद्दीपर आने के साथ ही तत्कालीन भारतीय राजनीति में महमूद गजनवी द्वारा उत्थापित बवण्डर को चीरने में लग गया। अन्य अनेक भारतीय नरेशों की तरह वह स्वयं उस आँधी में उड़ नहीं गया, अपितु घटना चक्रों की धुरी को स्वयं अपने हाथों में लेकर उसने अनेक बार सैनिक और राजनीतिक पहलें की, और महमूद की चुनौतियों का डटकर मुकाबला किया। इस सम्बन्ध में तथ्यों की वास्तविक जानकारी के लिए हमारे पास केवल मुसलमानी साक्ष्य ही हैं, जो अनेक पहलुओं पर महमूद की सफलताओं का एकतरफा ढोल पीटते है। तथापि अनेक उद्धरणों की वारीकी से जाँच करने पर यह प्रतीत होता है कि महमूद को अपने भारतीय आक्रमणों में विद्याधर एक ऐसी चट्टान के रूप मे मिला, जिसे वह तोड़ न सका[2]।.

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि स्थानीय शासन के रूप मे सोनभद्र (पूर्ववर्ती मीरजापुर का दक्षिणी भूभाग) भले ही खैरवार और बालन्द शासकों द्वारा शासित होता रहा हो, तदपि केन्द्रीय सत्ता चन्देलो के हाथ में ही केन्द्रित रही और उसी वातावरण में यहाँ मूर्तिकला का विकास हुआ। बारहवीं शताब्दी से अगोरी पर चन्देलवंशीय शासकों का आधिपत्य हो गया, जिन्होंने बुन्देलखण्डीय कला परम्परा का यहाँ भी सर्वथा निर्वहन किया। दसवीं शताब्दी में शिवद्वार पथक (तहसील) के रूप में विकसित था। विन्ध्योपत्यकावस्थित देवगढ़ मुगलकाल में परगना की भूमिका का निर्वहन करता था, जिसके अधीनस्थ अगोरी ३५० ग्राम, वर्दी ३५० ग्राम, सिंगरौली १४०० ग्राम तथा मड़वास ३५० ग्राम आते थे[3]। देवगढ़ १६६०

१- विहितकान्यकुब्जभूपालभङ्ग समरगुरुउपास्यत
प्रौढ़-सह कलचुरिचन्द्रः शिष्यवत भोजदेवः।। -एपिग्रैफिका इण्डिका।।१।२२१-२२।२१।।

२- उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृष्ठ-४०५

३ रीवा-राज्य-दर्पण पृष्ठ ४६२

ई० म अगोरी राज्य की एक स्वनन्त्र क्षत्रपी (ताल्लुका) के रूप म अधिष्ठित हुआ। तत्कालीन क्षत्रप बाबू गजराजसिह जू देव द्वारा निर्मित करायी गया अधिसंख्य मूर्तियाँ आज भी देवगढ़, महॉव तथा खजुरी में विद्यमान हैं। इस प्रकार पूर्ववर्ती केन्द्रीय चन्देल सत्ता तथा परवर्ती स्थानीय चन्देल सत्ता के सतत संरक्षण, सम्बर्द्धन में पली, बढ़ी एवं विकास को प्राप्त हुई सोनभद्र की मूर्तिकला को चन्देलकालीन मूर्तिकला की संज्ञा से अभिमण्डित किया जाय तो किञ्चितात्युक्ति न होगी।

सोनभद्र की मूर्तिकला को विषय प्रतिपादन की दृष्टि से पाँच उपवर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम कोटि में वे देव मूर्तियाँ आती हैं, जो प्रणयाह्लादरत हैं। इस दृष्टि से शिवद्वार में स्थित शिव-पार्वती की ललितासन मुद्रा में विरचित सम्पृक्त प्रतिमा उल्लेखनीय है। मूर्ति में भगवान शिव के वाम उरु पर भगवती पार्वती बैठी हैं। पार्वती का वाया हाथ दर्पण से सुसज्जित तथा दाहिना हाथ शिव के गले का कण्ठहार है। चतुर्भुज शिव का वाया हाथ पार्वती के पीछे क्षीण कटि प्रदेश से होता हुआ वाम पीवर स्तन का स्पर्श करता है। दाहिना हाथ मूर्ति कलेवर को अलङ्कृत करता हुआ भगवती उमा की ठुड्डी पर स्थित है। एक हाथ में त्रिशूल तथा दूसरे में फणीन्द्र की सुन्दर रचना की गई है। नेत्र, नासिका और अधर के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया गया है। पार्वती का मुख अण्डाकार और ठुड्डी गोल है। ऑखें काफी लम्बी तथा अभिराम हैं, जिनके ऊपर धनुपाकार भ्रूरेख प्रदर्शित की गई है। कलित कल कुन्तल-कलाप की सुगुम्फित सजा के उपरान्त सुन्दर उष्णीश तथा माथवेंदी की अलङ्कारिक छटा एवं कान में विशाल वृत्तवत कर्णपाशा मुख-मण्डल को भव्यता प्रदान करते हैं। नासाग्र दृष्टि तथा मन्दस्मिति मूर्तिकार की विलक्षण प्रतिभा की परिचायक हैं। शिव का कलात्मक जटाजूट, उस पर फबती किशोर मयङ्क की अप्रतिम आभा, हिमालय सदृश देदिप्यमान उच्च ललाट, ललित ललाम लोचन एवं मकराकृत कर्णाभरण किसी भी दर्शनार्थी को अपनी ओर सहज ही आकृष्ट कर लेता है। शिव तथा पार्वती के गले में कण्ठहार, प्रलम्बहार, बाजूबन्द, कटिमेखला, करकङ्गन तथा पाँव में कड़ा, पटरी एवं पैजनी मूर्ति कलेवर को नवीन उद्भावनाओं से अलङ्कृत करते हैं। पार्वती तथा शिव के हाथ की उगलियों में अँगूठी तथा पैर के अंगूठे में बिछुआ का सुन्दर विधान किया गया है। शीर्ष पर कार्तिकेय नीचे गणेश तथा अगल-बगल अनेक देवी देवताओं की सुन्दर मूर्तियाँ बनायी

गयी हैं लगभग ३ ५ फीट लम्बी काले पत्थर के द्वारा बनायी गई यह मूर्ति अपने आप में अद्वितीय है। इसी प्रकार की एक मूर्ति खजुराहों में प्राप्त हुई है, जो भारतीय संग्रहालय कलकत्ता के क्रमाङ्क ४६८ में संगृहीत की गई है। दोनों मूर्तियों में एक ही भाव-भूमि होते हुये भी पर्याप्त अन्तर है तथा जो लावण्य शिवद्वार की प्रतिमा में है उसकी किञ्चित भी अनुभूति उमामहेश्वर-प्रतिमा (खजुराहों) में नहीं होती है।

द्वितीय श्रेणी में एकल देव मूर्तियाँ आती हैं, जिसमें बर-कन्हरा स्थित विष्णु-प्रतिमा का महत्वपूर्ण स्थान है। इसी कोटि में कुड़ारी की कुण्डवासिनी-प्रतिमा तथा सतद्वारी की दुर्गा-प्रतिमा भी हैं। बर-कन्हरा की विष्णु-प्रतिमा काले पत्थर की है। मध्य में भगवान् श्री हरि का चित्ताकर्षक अभिराम श्रीविग्रह स्वरूप तथा पावन पदाम्बुजद्वय के सन्निकट अगल-बगल क्रमश-उत्तर एवं दक्षिण जघना, पृथुल नितम्ब, कृश-कटि, पीन-पयोधर, कण्ठहार, स्तनसूत्र से विभूषित नृत्यरत सुरबाला की भुवन मोहिनी छवि किसी भी विश्वामित्र को विचलित कर सकने में नितान्त सक्षम प्रतीत होती है। भगवान् विष्णु का मण्डलाकार मुख-मण्डल, विशेष अलङ्कार से युक्त मन्दिराकार मुकुट, मकराकृत कुण्डल तथा सुदीर्घ भ्रूस्मिति से अभिमण्डित है। गले में विशिष्ट कण्ठहार तथा यज्ञोपवीत की सुन्दर संरचना की गई है। सुपुष्ट स्कन्ध, केहरि के समान कटि, गम्भीर नाभि-केन्द्र और त्रिविध लड़ियों से युक्त मनोहर-मेखला की छटा अद्वितीय है। दाहिने तरफ ऊपर का हाथ वरद-मुद्रित, वायें ऊर्ध्व कर सुदर्शन चक्र सज्जित तथा नीचे का हाथ शंख-संयुक्त है। बाहु में बाजूबन्द तथा वलय में कङ्गन एवं पैर में पैजनी पहिरायी गयी है। इसके अतिरिक्त मूर्ति के वाम तथा दक्षिण पार्श्व में दशावतार का सुन्दर अङ्कन, 'दो जलचर, दो वनचर, चार विप्र, दो राव' का स्मरण दिलाता है। भगवान् विष्णु की इसी प्रकार की एक विलक्षण प्रतिमा शोण के उद्गम स्थल आम्रकूट नामधेय अमरकण्टक के कर्ण-मन्दिर में अवस्थित है। अमरकण्टकस्थ विष्णु प्रतिमा कलचुरि काल की बनी हुई है। दोनों मूर्तियों पर कला का समान आग्रह और कमनीयता की विपुल राशि विद्यमान है।

बर-कन्हरा में ही महिषासुरमर्दिनी की एक अद्भुत प्रतिमा है। इसे कङ्काली मूर्ति भी कहा जा सकता है। देवी नर्तन की मुद्रा में हैं। अष्टादश-भुजाधात्री देवी का स्वरूप भयङ्कर प्रतीत होता है इसी प्रकार की दुर्गा की

एक प्रतिमा रानीवाव (पाटन) गुजरात में है, जिसमें २० भुजा की परिकल्पना की गई है। एकल देवी प्रतिमाओं में कुड़ारी की कुण्डवासिनी प्रतिमा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। त्रिकूट मुकुट देवी के मस्तक पर सुशोभित है। वे त्रिनेत्रिणी हैं और उनके कर्ण युगल में सूर्य्यवृत्त कुण्डल, कण्ठ में ग्रैवेयक, पत्तीदारहार, प्रलम्बहार तथा स्तनों पर स्तनबन्ध बँधा हुआ है। देवी ने केयूर और हाथ में चूड़ीदार वलय, कटि-मेखला, उरुदाम, पादजालक, वनमाला प्रभृति धारण किए हुये हैं। देवी नर-वाहना हैं। यहाँ उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है कि अघोर-काल में चौरासी क्षेत्र के अन्तर्गत गुजरिन अधिकारी रहती थी, जिसने अघोर परम्परा के तत्कालीन स्वामी के आदेश से लगभग ९०० सम्वत् में कुण्डवासिनी मन्दिर का निर्माण कराया। इससे स्पष्ट होता है कि प्रतिमा का निर्माण भी उसी काल-खण्ड में किया गया होगा। महादेवी कुण्डवासिनी की प्रतिमा यन्त्र-साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

तृतीय श्रेणी में सुर-सुन्दरियों, देवाङ्गनाओं, नृत्याङ्गनाओं आदि की मूर्तियाँ आती हैं। खजुरी की एक नृत्यरत देवाङ्गना मूर्ति उल्लेखनीय है, जिसमें उसका दाहिना हाथ सिर के पीछे से वाम स्कन्ध का स्पर्श करता हुआ कटार से सुशोभित है। सिर बायीं ओर झुका हुआ है। बाया हाथ जङ्घे के पास वस्त्र पकड़े हुये है। कर्णाभरण, अनावृत स्तन, गम्भीर नाभि से युक्त नृत्याङ्गना महिष-मस्तक पर अधिष्ठित है। बलुहे सफेद पत्थर की बनी हुई यह मूर्ति खण्डितावस्था में है। यहीं एक अन्य चतुर्भुजी देवी की प्रतिमा है, जिसके अगल-बगल क्रमशः दक्षिण एवं वाम जघना रमणी की रमणीक मूर्ति अङ्कित है। तीसरी मूर्ति दर्पण लिए हुये, चतुर्भुज, वाम विवस्त्र जघना, कृश-कटि, पृथुल नितम्ब संयुत देवी की प्रतिमा है। मूर्ति के दाहिने भाग में 'श्री' शब्द का अङ्कन लक्ष्मी की ओर सङ्केत करता है। अगल-बगल सिंह तथा ऊपर स्वस्तिक के समान युगल नारी मूर्ति हाथ में ढाल तथा तलवार लिए हुये अङ्कित है। खजुरी में ही एक पीपल वृक्ष के नीचे कतिपय मूर्तियाँ बिखरी पड़ी हैं, जिसमें एक नृत्याङ्गना की प्रतिमा दर्शनीय है। इस मूर्ति में मूर्तिकार का मन पीन कुच और विस्तृत नितम्ब पर अधिक रमा है। मूर्ति को देखते ही पुराणकार द्वारा गुरु वृहस्पति की भार्या तारा की सर्वाङ्ग सुन्दर देह-लता के प्रति विनिवेद्य स्वरूप-रस-माधुरी साकार हो उठती है[1]।

१- कदाचिदुद्यानगतामपश्यदनेकपुष्पाभरणैश्च शोभिताम्।
वृहन्नितम्बस्तनभारखेदात् पुष्पस्य भङ्गेऽप्यति दुर्वलाङ्गीम्।।
भार्यां च तां देवगुरोरनङ्गबाणाभिरामायत चारुनेत्राम्।
तारां स ताराधिपतिः स्मरार्तः केशेषु जग्राह विविक्त भूमौ।। - मत्स्यपुराण ।।२३।२९-३०।।

चतुर्थ कोटि मे नर पशु की प्रतिमाए् आती हे इस श्रेणी की प्रतिमाआ में कन्हरा की नृसिंह मूर्ति तथा खजुरी की वाराह मूर्ति उल्लेखनीय है। वाराह के हाथ पर एक नारी बैठी हुई है, जिससे हिरण्याक्ष वध तथा वसुमत्योद्धार प्रकरण का अङ्कन मूर्तिकार की टंकिणीं से साकार होता है। खजुरी में ही एक खण्डित नन्दी की प्रतिमा है, जिसका एक साथ चार सुर-सुन्दरियाँ आलिङ्गन कर रही हैं। पाँचवें कोटि में पशु मूर्तियाँ आती हैं, जिसमें हाथी, घोड़ा, सिंह आदि की प्रतिमाएँ बहुल संख्या में प्राप्त होती हैं।

सोनभद्र की मूर्तिकला का एक अपूर्व अङ्ग अधूरा ही रहेगा यदि यहाँ के शिवलिङ्गों की चर्चा न की जाय। यहाँ पर चार प्रकार के शिवलिङ्ग पाये जाते है। प्रथम श्रेणी में वे शिवलिङ्ग आते हैं, जिसमें पार्वती की मुखाकृति संयुक्त है। इस प्रकार के शिवलिङ्ग गौरीशङ्कर तथा कण्डाकोट में विद्यमान हैं। द्वितीय श्रेणी में पञ्चमुखी शिवलिङ्ग (पञ्चमुखी महादेव चुर्क तथा मझिली), तृतीय सहस्त्रलिङ्गीय शिवलिङ्ग तथा चतुर्थ वे शिवलिङ्ग जो नीचे से चतुष्कोणीय अनन्तर अष्टकोणीय और ऊपर वृत्तवत हैं। इस प्रकार के शिवलिङ्ग शिवद्वार, भरकना तथा देवगढ में विद्यमान हैं।

इस प्रकार के शिवलिङ्ग शास्त्रीय विधि से प्रमाणित माने जाते है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वर्णित है कि– लिङ्ग की पूजा करने से संसार की पूजा सम्पन्न-सी हो जाती है। इसका आभोग (पिण्डी) गोल तथा भाग अष्टकोण करे तथा भूरि दक्षिणा वाला भाग चौकोर, पिंडिका में स्थित अष्टकोण दृश्य करना चाहिए। ब्रह्मपीठ पर स्थित चौकोर करे। बुद्धिमान लोग भद्रपीठ के नीचे ब्रह्मपीठ कहते हैं। सामने से लिङ्ग के ऊपर से गई लेखा अच्छी प्रकार गोल की जाय। वैसे ही दूसरी ऊँची लम्बी बुद्धि गुणवाली ब्रह्मसूत्र में कई गई है।[१]

देवगढ़ शिव मन्दिर में गणेशजी की एक अद्भुत प्रतिमा है, जिसमे गणेशजी का सूड़ दायीं तरफ को है। वायीं तरफ सूड़ किये हुये गणेशजी की

१- भोगोऽस्य वृत्तः कर्त्तव्यो भागमष्टास्त्रमेव तु।
चतुरस्रं तथा भाग कर्त्तव्यं भूरिदक्षिणम्।।
वृत्त दृश्य तु कर्त्तव्य विष्णुधर्मोत्तर पुराण ३ ७४ २ ३

प्रतिमाएँ वहुतायत संख्या में पायी जाती हैं, परन्तु दायीं तरफ सूड़ वाली प्रतिमा अद्वितीय तथा दुर्लभ है। शुक्रनीति के अनुसार दक्षिणावर्ती सूड़ वाले गजानन की प्रतिमा तान्त्रिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार की एक प्रतिमा मेरे व्यक्तिगत सङ्ग्रह में सङ्गृहीत है, जो मूलतः स्यन्दनारूढ़ उपानहधारी सूर्य्य के वाम पार्श्व में अङ्कित है। उपर्युक्त सूर्य्य की प्रतिमा भी अद्वितीय तथा अलौकिक दैवी गुण सम्पन्न है। सूर्य्य की मूर्ति में चरण की परिकल्पना भारतीय परम्परानुसार अनिष्टकारी माना जाता है। प्रतिमा लक्षण के अनुसार उपानह संयुक्त होने पर उक्त दोष का निदान हो जाता है। इसी प्रकार की उपानह युक्त प्रतिमा कोणार्क में भी है। अन्तर सीर्फ इतना है कि उसमें (कोर्णाक) सूर्य्य खड़े हैं तथा इस प्रतिमा में सिहासनारूढ़ मुद्रा में बैठे हैं।

इन मूर्तियों के अतिरिक्त अन्यान्य तान्त्रिक यन्त्र, स्वस्तिक, श्रीवत्स, त्रिरत्न या नन्द्यावर्त, पञ्चाङ्गुलाङ्क, वैजयन्ती, वर्द्धमान तथा मीन-मिथुन प्रभृति के विभिन्न माङ्गलिक प्रतीक चिह्नों से युक्त अनेक अलङ्कारिक प्रतिमाएँ बहुल संख्या में यत्र-तत्र विखरी पड़ी हुई हैं।

अध्यात्मरामायण में एक स्थान पर श्रीराम के लिए 'श्रीवत्सहार केयूरं नूपुरादि विभूषणः' कहा गया है। बैखानस आगम में राघवेन्द्र श्रीराम को 'श्रीवत्साङ्कः' संज्ञा से विभूषित किया गया है। रामायण में रावण के वध के पश्चात् विलाप करती हुई मन्दोदरी राम को विष्णु-अवतार के रूप में 'शखचक्रगधाधरः' और 'श्रीवत्सवक्षः' संज्ञा से सम्बोधित करती है[१]।

डॉ० ए०एल० श्रीवास्तव 'श्रीवत्स भारतीय कला का एक माङ्गलिक प्रतीक' के आमुख में लिखते हैं-'श्रीवत्स प्रतीक का उद्‌भव मानव-मूर्ति के आधार पर हुआ था, क्योंकि अपने गुणों के आधार पर संसार के प्राणियों मे मानव ही लक्ष्मी-पुत्र होने के लिए समर्थ था। समय और सुविधा के

१- व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः।
अनादिमध्यनिधनो महतः परमो महान्।।
तमसः परमोधाता शंख चक्र गदाधरः।
श्रीवत्सवक्षो नित्यश्रीरजय्यः शाश्वतोध्रुवः।। -रामायण, युद्धकाण्ड ।।१११।११-१२।।

साथ-साथ श्रीवत्स का प्रतीक धीरे-धीरे अपना रूप बदलता रहा। जहाँ पहले वह एक खड़े मानव की मूर्ति के समान था, वहीं वह पालथी मारकर बैठे मानव के आकार का हो गया। आगे चलकर वह फन से फन मिलाये दो नागों का मिथुन बन गया और अन्ततः श्रीवत्स एक चतुर्दल पुष्प रूप में बदल गया।' श्रीवत्स भारतीय कला में माङ्गलिक प्रतीक चिह्न के रूप में महापुरुषों के लक्षण को निर्दिष्ट करने के निमित्त विष्णु आदि देवताओं के वक्ष पर उत्कीर्ण किया गया है। श्रीवत्स, स्वस्तिक, पुष्प, दर्पण, परशु, अङ्कुश, भद्रासन, कलश, माला, पुस्तक, कमण्डलु, मीन-मिथुन, वर्द्धमान, नन्द्यावर्त, छत्र, चामर, ध्वज प्रभृति माङ्गलिक प्रतीकों में से कोई भी आठ 'अष्टमाङ्गलिक' के रूप में स्वीकार किये जाते हैं।

सोनभद्र की मूर्तिकला मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला की प्रमुख देन है। कतिपय मूर्तियों के अतिरिक्त अन्यान्य बिखरी पड़ी मूर्तियाँ सम्प्रति सबल संरक्षण की चिरप्रतिक्षा में निमग्न हैं। तत्कालीन चन्देल सम्राटों का कलात्मक विदग्ध मानस तथा कला संरक्षण आज कहाँ सम्भव है? मूर्तिकारों ने चित्र षडङ्ग का सर्वथा निर्वहन किया और तत्कालीन समाज का प्रतिदर्श प्रस्तुत करने का प्रयास भी। यद्यपि आज वह स्थिति नहीं है न भविष्य में होगी, तथापि मूर्तियों का संरक्षण तो किया ही जा सकता है। संरक्षण के अभाव में अनेक अमूल्य प्रतिमाएँ कला-द्रोहियों द्वारा नष्ट कर दी गईं अथवा थोड़े अर्थ-लाभ के निमित्त बेच डाली गईं। यदि अब भी संरक्षण नहीं मिला तो निश्चय ही भावी पीढ़ी इस अमूल्य धरोहर से वञ्चित हो जायेगी। इसमें कोई सन्देह नहीं।

❖❖

प्रागैतिहासिक चित्रकला के पद-चिन्ह

नव स्वरूपसंवित-वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को आत्मा को परिमित करती है-इसी क्रम का नाम कला है[1]। 'कला' संस्कृत भाषा का शब्द है। 'कला' शब्द की व्युत्पत्ति विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है। संस्कृत में 'कला' शब्द की सिद्धि 'कल्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ संख्यान है। 'सख्यान' शब्द की व्युत्पत्ति 'ख्या' धातु (जिसका अर्थ कथन, घोषणा करना या संबाहन करना होता है) से न होकर 'चक्षिङ्व्यक्तायां वाचि' से है, जिसका अर्थ स्पष्ट वाणी में अभिव्यक्ति है[2]।

हमारे भारतीय वाङ्मय में कला के विभिन्न स्वरूपों का चित्रण मिलता है। उपनिषदों में भी कला शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है; यथा- प्राचीदिक् कला, दक्षिणादिक् कला आदि। वैदिक ग्रन्थों में भी 'कला' शब्द का प्रचुर प्रयोग परिलक्षित होता है। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत यजुर्वेद के ३० वें अध्याय में ६४ कलाओं का प्रथमतः उल्लेख मिलता है, जिसे वात्स्यायन मुनि ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'कामसूत्र' में वर्णित किया है[3]।

१- कलयति स्वरूपमावेशयति वस्तूनि वा
तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला। -शिवस्वरूपविमर्शिनी

२- डॉ० श्यामविहारी अग्रवालः भारतीय चित्रकला का इतिहास, पृष्ठ-१

३- गीतम्, वाद्यम्, नृत्यम्, आलेख्यम्, विशेषकच्छेद्यम्, तण्डुलकुसुमावलि-विकारः, पुष्पास्तरणम्, दशनवसनाङ्गरागः, मणिमुष्टिकाकर्म, शयनरचनम्, उदकवाद्यम्, उदकाघातः, चित्राश्च योगाः, माल्यग्रन्थनविकल्पाः, शेखरकापीडयोजनम्, नेपथ्यप्रयोगाः, कर्णपत्रभङ्ग, ग्रन्थयुक्तिः माल्यग्रन्थयुक्तिः, भूषणयोजनम्, ऐन्द्रजालाः, कौचुमारश्चयोगाः, हस्तलाघवम्, विचित्रशाकयूष-भक्ष्यविकारक्रिया, पानकरसरागासवयोजनम्, सूचीवानकर्माणि, सूत्रक्रीड़ा, वीणाडमरूकवाद्यानि, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचकयोगाः, पुस्तकवाचनम्, नाटकाख्यायिकादर्शनम्, काव्यसमस्यापूरणम्, पट्टिकावानवेत्रविकल्पाः, तक्षकर्माणि, तक्षणम्, वास्तुविद्या, रूप्यपरीक्षा, धातुवादः, मणिरागाकरज्ञानम्, वृक्षायुर्वेदयोगाः, मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः, शुकसारिकाप्रलापनम्, उत्सादने संवाहने केशमर्दने च कौशलम्, अक्षरमुष्टिकाकथनम्, म्लेच्छित विकल्पाः देशभाषाविज्ञानम्, पुष्पकटिका, निमित्तज्ञानम्, यन्त्रमात्रिका, धारणमात्रिका, सम्पाठ्यम्, मानसी काव्यक्रिया, अभिधानकोशः, छन्दोज्ञानम्, क्रियाकल्पः, छलितकयोगाः, वस्त्रगोपनानि, द्युतविशेषः आकर्षक्रीडा, बालक्रीडनकानि, वैनयिकीनाम् वैजयिकीनाम, व्यायामयिकीनाम् च विद्यानां ज्ञानम्, इति चतुःषष्ठिरङ्गविद्याः।
-कामसूत्र अधिकरण १ ' अध्याय ३ '

मुनि द्वारा निर्देशित ६४ कलाओं मे विवृत आलेख्यम् (चित्रकला) कला अपने समय की महत्त्वपूर्ण व सम्मानित कला रही है। वामनपुराण मे उल्लिखित है कि नारायण मुनि ने विहँसकर एक फूल से भरी मञ्जरी ली और अपने उरु पर एक सुवर्ण अङ्गवाली तरुणी का चित्र लिखकर उसकी सजीव संरचना कर दी[१]। इस घटना से चित्रकला की प्रासङ्गिकता और उसकी ऐतिहासिकता का अवबोध होता है।

संस्कृत साहित्य में चित्रकला सम्बन्धी बड़े रोचक उद्धरण मिलते है। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोवर्शीयम्, कुमारसम्भव, मेघदूत आदि लगभग अपने सभी ग्रन्थों में चित्रशालाओं का वर्णन किया है। बाण की कादम्बरी और हर्षचरित के प्रत्येक महल में भित्ति-चित्रों से अलङ्करण का वर्णन मिलता है-

'आलेख्य गृगैरिव बहुवर्णा चित्रपत्र शकुनिश संशोभतेः'

श्रीहर्ष के नैषधचरित में चित्रकला को यही महत्त्व दिया गया है। भवभूति तीनों प्रकार के चित्रों का वर्णन करते हैं-पट्ट, पट् और कुड्य (भित्ति)। वास्तव में सौन्दर्यानुभूति के क्षेत्र में चित्रकला को अन्य शिल्पो मे उत्तम समझा जाता था-

'चित्रं हि सर्व शिल्पानां मुखं लोकस्य च प्रियम्[२]।'

जहाँ तक भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रकला का प्रश्न है, तो उसका उद्भव एवं विकास मिर्जापुर के दक्षिणी भूभाग में स्थित कैमूर श्रेणी की गुफाओं में हुआ है। आश्चर्य की बात यह भी है कि इसी जनपद की कैमूर श्रृङ्खलाओं से सर्वप्रथम भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रकला की खोज भी प्रारम्भ हुई। इस सम्बन्ध में 'भारत-भारती' विभूषण भूषित मान्यवदान्य प्रागैतिहासिक चित्रकलाविद् प्रो० जगदीश गुप्त ने लिखा है-'कैमूर की पहाड़ियो, जो मिर्जापुर के निकटवर्ती विन्ध्यक्षेत्र में स्थित हैं, के गुफा-चित्रों का परिचय आर्चिबाल्ड कार्लाइल (ARCHIBALD CARLLEYIL) तथा जाँन काकबर्न

१- ततोविहस्य भगवान् मञ्जरी कुसुमावृताम्।
आदाय प्राक्सवर्णाङ्गीमर्वोवालां विनिर्ममे।। - वामनपुराण ।।७।४।।

२ वही० भारतीय कलाएँ एव उनका विकास पृष्ठ १

(JOHN COCKBURN) को एक दूसरे की सहायता के बिना स्वतन्त्र रीति से सन् १८८० में मिला। कार्लाइल की शोध का विवरण कहीं प्रकाशित नही हुआ, केवल उसकी सूचना भर फरवरी १८८३ ई० की प्रो० ए० सो० बं० (P.A.S.B.) की सूची में दे दी गई है परन्तु कॉकबर्न ने अपनी शोध का सचित्र वैज्ञानिक विवरण 'एसियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' के जर्नल[1] मे सन् १८८३ में ही प्रकाशित करा दिया। उसका सुदिर्घ शीर्षक इस प्रकार है-

ऑन दि रीसेंट एग्जिस्टेंस ऑफ रिनौसेरस इंडिकस इन दि नार्थ-वेस्ट प्रॉविंसेज एण्ड ए डेस्क्रिप्शन ऑफ आर्केइक राकपेंटिंग फ्राम मिर्जापुर, रिप्रेजेटिंग दि हन्टिंग ऑफ दि एनीमल[2]।'

प्रो० जगदीश गुप्त के उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुये डॉ० श्यामबिहारी अग्रवाल ने लिखा है-'भारतीय शिला-चित्रों की ओर सर्वप्रथम ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय आर्चिबाल कार्लाइल (ARCHIBAL CARLLEYLE) तथा जॉन काकबर्न (JOHV COCKBURN) को है। उन्होंने सन् १८८० मे कैमूर की पहाड़ियों के चित्रों का अलग-अलग परचय दिया, जो मिर्जापुर के निकट विन्ध्य क्षेत्र में स्थित हैं[3]।

तात्पर्य यह है कि विश्व के समक्ष अखिल भारतीय स्तर पर प्रागैतिहासिक चित्रकला की जननी के रूप में अपनी कीर्ति प्रकीर्णित करने के उपरान्त भी मीरजापुर (सोनभद्र) के सुदूर दक्षिण में स्थित देवगढ़ की पहाड़ियों में अनादिकाल से सुरक्षित शैल-चित्रों की तरफ किसी भी पाश्चात्य अथवा भारतीय मनीषी का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। इसका एक मात्र कारण गमनागमन की सुविधा से नितान्त वञ्चित रहना ही है। देवगढ़ क्षत्रपी की सीमा के अन्तर्गत प्राप्त शैलचित्रों में टकिया, दुअरा, बलुहा, कोहबरवा तथा मुक्खा दरी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन स्थोनों पर प्रचुर मात्रा में शैलाश्रित गुहाचित्र विद्यमान हैं। स्थानीय भाषा मे इन्हें कोहबर की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

मुक्खा-दरी के शैलाश्रित चित्रों में हाँथी, भेड़, बकरी, बैल, हिरन, साँभर, मयूर, गैड़ा, काफिले के रूप में मनुष्य, स्वस्तिक जैसे माङ्गलिक

१- J.A.S.B. V.I.LII, Part II, No. 1, पृष्ठ ५६-६४

२- डॉ० जगदीशगुप्त : भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रकला, पृष्ठ०२७

३- डॉ० श्यामविहारी अग्रवाल : भारतीय चित्रकला का इतिहास, पृष्ठ-१७-१८

प्रतीक एवं हाथ के पञ्जे का चित्राङ्कन बहुलता से किया गया है। इसके अतिरिक्त यहाँ पालकी लिए हुये कहार का चित्र मर्मस्पर्शी है।

देवगढ़ स्थित टकिया की शैलश्रृङ्खलाओं में लगभग शतकद्वय से अधिक चित्र सुरक्षित हैं, जिसमें नग्न मनुष्य, शिकार-दृष्य, हाँथी, घोड़े तथा बैल पर सवार मनुष्य, नारी चित्रण, नर्तकी, राजा-रानी, मृग-झुण्ड, बगुला आदि के चित्र प्रमुख हैं। इसी प्रकार के चित्र दुअरा तथा कोहबरवा में विद्यमान हैं। बलुहा में पालकी लिए हुये कहार तथा उनके पीछे सैकड़ों की संख्या में बाराती इस प्रकार तन्मयता पूर्वक खड़े हैं कि उन्हें देखते ही वास्तव में बारात-यात्रा का दृष्य मूर्तवत हो जाता है। वहीं पर हाथ के पञ्जे का भी युगल चित्राङ्कन किया गया है। इन चित्रों में एकरूपता तथा गतिमयता पर विशेष ध्यान दिया गया हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि तत्कालीन चित्रकार अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति करने में नितान्त दक्ष था। हाथी पर सवार मनुष्य का चित्रण जहाँ उस काल के मानव का पशु-प्रेम प्रदार्शित करता है वहीं नग्न मानव, वस्त्र ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ था। काफिले के रूप में चित्रित चित्र संयुक्त परिवार की ओर संकेत करते हैं तथा मुक्खा-दरी एवम् बलुहा में अङ्कित पालकी लिए हुये कहार का चित्र विवाह संस्था के प्राचीनतम् स्वरूप को प्रदर्शित करता है।

विन्ध्य की पहाड़ियों में अङ्कित इन चित्रों को जहाँ स्थानीय जनता कोहबर के रूप में किसी न किसी प्रकार माता सीता से सम्बन्धित करती है, वहीं मुक्खा-दरी के शैलचित्रों में 'बड़ेबाबा' का आख्यान अनुस्यूत होना बतलाया जाता है। कुछ लोग इन चित्रों को प्राक्युगीन तिलस्मों के बीजक-प्रतीक के रूप में स्वीकार करते हैं। चाहे कुछ भी हो इन चित्रों में प्रागैतिहासिक काल का इतिहास तो सन्निहित है ही। इन चित्रों के प्रणेताओं ने तत्कालीन इतिहास को अपनी तूलिका के माध्यम से अङ्कित करने का सत्यप्रयास किया है। सम्प्रति इन चित्रों का संरक्षण ही भावी पीढ़ी को पुरा ज्ञान से परिचित कराने की पूर्व पीठिका का दायित्व निर्वहन का कार्य सम्पन्न करेगा और यही उन अज्ञात अनाम प्रागैतिहासिक चित्रकारों के प्रति हार्दिक श्रद्धाञ्जलि और कलात्मक कृतज्ञता होगी।

शिवद्वार-काव्य-कुसुमाञ्जलि

(१)

सृष्टि वही करता औ करता प्रलय वही,
सर्वत्र व्याप्त वही एक धरा आसमान में।
सत्य की गहनता से शब्द पनपाने वाला,
रमता है पल-प्रति-पल जो परान में।
जिसका न पार पाये अज औ उपेन्द्र कभी,
ढूढ़ते ही रह गये कल्प के विहान में।
विधि का विधान मिटे जिसके प्रभाव वश,
वही त्रिपुरारी नामधारी है जहान में।।

(२)

शिव की कृपा से वही भद्र शोणभद्र हुआ,
बह रही स्नेह की जहाँ अजस्र धार है।
सुषमा निसर्ग की न पड़ती है फीकी कभी,
प्रतिक्षण शोभा का अपूर्व सुप्रसार है।
मधुऋतु नव उपहार बाँटती है, जहाँ-
पुष्पबाणयुत मीनकेतु रखवार है।
शिव के सुजंघ पर राज रही शिवा जहाँ,
शिव ढिग जाने का सुगम शिवद्वार है।।

(३)

कविता समायी हुयी लोल-लोल लोचनों में,
सविता-सा तेज भाल विन्दु में विचित्र है।
वक्र भौंह सुघरायी धनु की टेढ़ाई लसै,
नथिया के बीच नाक शोभा भी सुचित्र है।
कर्णफूल कर्ण में विखेरता प्रकाश और,
श्वास-श्वास में बसा सुगन्ध छन्द-इत्र है।
एक कर अवलम्ब शिव को प्रदान कर,
एक हाथ आरसी की रचना पवित्र है।।

(४)

अपलक उमा को निहारते हैं बार-बार,
मानों शिव भावना की पाती बाँच जायेंगे।
चक्षु से सलज्ज प्रीति आँकते हैं मौन मूक,
लगता है रसराज खुद नाँच जायेंगे।
व्याल फुफ्कार से भयापदा है काँपती,
सुभक्त चित्त चाव से सुसींच साँच जायेंगे।
कृपा अवलम्ब जो महेश का मिले तनिक,
पास नहीं कभी ताप त्रय आँच जायेंगे।

(५)

घुँघराले लट जो ललाट पे लटक रहे,
मानों चाँद आस-पास घन सुकुमार है।
पारिजात कचनार बेला औ चमेली गुँथी,
केश वेणीं लगती बसन्त की बहार है।
मुद्रिका विचित्र-चित्र नग से लसी हुई औ,
शुचि कटिबन्ध द्युति फूटती अपार है।
शिवद्वार धाम विश्वनाथ हैं विराजे हुये,
उमा संग होती जहाँ नित जयकार है।।

(६)

लोल अरुण अधरों पे स्मिति की रेख देख,
चाँद-सूर्य साथ-साथ शिशु रूप आये हैं।
शम्भु-शक्ति की प्रसन्नता है वरदान भाँति,
वाणी और वीणा स्वर छन्द अपनाये हैं।
शिवा को विलोकते-विलोकते ही एकाएक,
डम - डम डमरू संगीत उपजाये हैं।
स्पर्श कर-पल्लवों का रसशिक्त पाके शम्भु
सतद्वारी मध्य सृष्टि रचना रचाये हैं।।

(७)

शीर्ष पर कार्तिकेय पद में गणेश मुग्ध,

वाजुओं में अज औ उपेन्द्र छवि छायी है।

भाँति-भाँति की कलावली-गुणावली समस्त,

एक साथ कला-कला रूप धर आयी है।

जगमग ज्योति से है अंग-जग दीप्त होता

ऐसी ज्योति आके नख बिन्दु में समायी है।

धन्य-धन्य स्रष्टा वह जिसने कि स्रष्टा रूप

टाँकियों से टाँका, शिला छवि छहरायी है।।

(८)

देश वह धन्य जहाँ कंकर में शंकर हैं,

छायी चारों ओर जहाँ सम्पदा अपार है।

नित गुणगान करते नारद औ तुम्बरू,

समस्त क्षेत्र महनीय शम्भु दरबार है।

क्षिप्रा और शोण लाँघ आये कालिदास जब,

श्लोक-पर-श्लोक फूटे वह चली धार है।

सम्भव कुमार महाकाव्य कहलाता सच

उसकी भी रचना में योग शिवद्वार है।।

(९)

धराधरेन्द्रनन्दिनी कुचाग्र चित्रकार की,

जो कल्पना लंकेश ने अनूठी कर डाली है।

उसको भी सच सिद्ध करता है कृतिकार,

टंकिणी अपूर्व छलकाती रस-प्याली है।

महिमा अवर्ण्य है उमेश की उमा के साथ,

नव्य-नव्य फूट रही ज्योति मतवाली है।

काम भामिनी के अंग-अंग में जो लालिमा है,

उतनी तो गिरिजा के चरणों में लाली है।।

(१०)

शिव औ शिवा की देख अद्वितीय रूप राशि
शीश पर शशि की न शोभा कहि जात है।
धरती प्रमत्त और झुका आसमान जैसे,
झूम चला चूमने वल्लरियों को पात है।
भरने को निकले हैं प्यार भरे जोड़े जहाँ,
कुञ्ज गलियों में झुरमुट का प्रभात है।
छवियाँ अनूप सितवाह रही प्रतिपल,
देख-देख दृश्य आभ मन न अघात है।।

(११)

दिवसावसान तक फैलती है दिव्य गन्ध,
रजनी में रातरानी आँगन बुहारती।
शीश पर चन्द्र और साथ-साथ गंगा मुग्ध,
करके सुवृष्टि पद-पद्म को पखारती।
चारु चित्त चंचला सुकुन्तला उमा प्रसन्न,
बार-बार शिव रूप देखती बखानती।
शिव अंक दीप्त दिव्य नभ बीच दामिनी-सी
गिरिराज दुहिता पुनीता अति भावती।।

(१२)

अविचल ध्वस्त दुर्ग खड़ा है प्रसन्न चित्त,
महिमा बता रहा अतीत के समृद्धि की।
कण-कण दानवीर शिवि की कहानी लिये,
छवि रस पान कर रहा नव वृद्धि की।
तृण-तृण भावना सुखद बरसाते हुये,
पट खोल दिखलाता रूप है प्रसिद्धि की।
मध्य परी बावरी-सी बावली विचार रही
परिखा निहार रही खान नव निद्धि की।।

❖❖

'विकल' से प्राप्त हुई वहीं काव्य-चिन्तन की अभिप्रेरणा स्मृतिशेष यशःकाय डॉ० जगदीशगुप्त से मिली।

प्रबुद्ध जीवन के प्रत्येक क्षण को सार्थक भाव से जीने वाले वीणापाणि के श्रीचरणों में नैवेद्यवत् समर्पित, हिन्दी-भोजपुरी के रससिद्ध सुकवि श्री जितेन्द्रकुमार सिंह 'सञ्जय' सोनाञ्चल के उन साहित्यकारो मे है, जिन्हें अत्यन्त अल्पवय में ही देश के समर्थ शीर्षस्थ विद्वानों का आशीः प्राप्त है।

मात्र २३ वर्ष की छोटी-सी उम्र में ही सञ्जय जी ने कुण्डवासिनी स्तोत्र, कुण्डवासिनी चरित, देवगढ का सांस्कृतिक इतिहास, उत्तर भारतीय राजपूत और परमार वंश, चन्देल राजवंश का इतिहास, 'सोनवाँ कऽ अँचरा (विकल जी के भोजपुरी गीतों का सञ्चयन) चतुष्कल, पुष्कल, साहित्यकार द्विवेदी दम्पत्ति (यन्त्रस्थ) प्रभृति पुस्तकों की रचना करके अपने आप में एक मिशाल कायम की है। देश की विभिन्न संस्थाओं से सम्बद्ध होने के साथ-ही-साथ अपने गृह ग्राम देवगढ में 'बाबू वेणीबहादुर सिंह स्मृति पुस्तकालय की स्थापना करने वाले कविवर सञ्जय की रचनाओं का प्रकाशन नार्वे से प्रकाशित द्वैमासिक पत्रिका 'स्पाइल दर्पण' (द्विभाषीय) सहित देश की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं मे हुआ तथा आकाशवाणी केन्द्र ओबरा एवम् इलाहाबाद से समय-समय पर रचनाओं का प्रसारण भी होता रहा है। देश के सुप्रतिष्ठित मञ्चों से काव्य-पाठ करने वाले श्री सञ्जय उत्तर प्रदेश के प्रथम वेब साइड हिन्दी न्यूज पेपर 'अब तक डाट कॉम' से 'विशेष सहयोगी' के रूप में सम्बद्ध हैं। सम्प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी में अध्ययनरत।

– राजेन्द्रकुमार तिवारी 'दुकानजी'